मुनि श्री ज्ञानसागर जैन ग्रन्थमाला–पुष्प २.



सुदर्शनोदय काव्य

[हिन्दी अनुवाद सहित]



रचयिता :

श्री १०८ मुनि ज्ञानसागरजी महाराज



सम्पादक :

हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री

सिद्धान्तालङ्कार, न्यायतीर्थ

प्रकाशक–

प्रकाशचन्द्र जैन

मंत्री–मुनिश्री ज्ञानसागर जैन ग्रन्थमाला

ब्यावर (राजस्थान)

प्रथम संस्करण प्रति १०००

कार्त्तिक शुक्ला १५

वी. नि. २४९३, वि. स. २०२३

नवम्बर १९६६

मूल्य २.५० पैसे

पुस्तक मिलने का पता–

गणेशीलाल रतनलाल कटारिया

कपड़ा बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

मुद्रक–

मोहनसिंह लोढ़ा,

वीर राजस्थान प्रिन्टिग प्रेस, ब्यावर

प्रकाशकीय-

प्रस्तुत ग्रन्थको पाठकोंके हाथोंमें देते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि गत महावीर जयन्ती पर प्रस्तुत ग्रन्थमालाका प्रथम पुष्प 'दयोदयचम्पू' प्रकाशित करनेके पश्चात् अल्प समय में ही यह द्वितीय पुष्प प्रकाशित हो रहा है। इसके प्रकाशनमें जिन महानुभावोंने आर्थिक सहायता दी है उनकी नामावली इस प्रकार है—

२५१) श्री महावीरप्रसादजी, एडवोकेट हिसार
२५१) श्री बलून्दा जैन समाज
२००) श्री जगतसिंहजी जैन, हिसार
१६०) श्री मथुरादासजी जैन, अजमेर
१५२) श्री हेमराजजी बड़जात्या „
१५१) श्री फूलचन्दजी पहाड्या, तिनसुखिया वाले
१०१) श्री पं० विद्याकुमारजी सेठी, अजमेर
१०१) श्री ब्र० प्यारेलालजी बड़जात्या „
१०१) श्री शान्तिलालजी नेमिचन्द्रजी कोठिया वाले
१०१) श्री चिरजीलालजी हजारीलालजी सोनी, अजमेर
१०१) श्रीमती धर्मपत्नी श्री हुकमचन्द्रजी लुहाड्या अजमेर
१०१) श्री जेठमलजी आनन्दपुर कालू
१०१) श्री मांगीलालजी ऋषभदासजी बड़जात्या, अजमेर
१०१) श्री माधोलालजी गदिया, वीरवाला
१०१) गुमानमलजी महावीरचन्द्रजी काला, सर्राफ अजमेर
१०१) श्रीमती विद्यावती ध० प० श्री स्वरूपचन्द्रजी, अजमेर
१०१) श्री टीकमचन्दजी भैंसा, अजमेर

१०१) श्री टोडरमलजी जात्रीपरसादजी हरदोई
१०१) श्री छोटेलालजी राजेन्द्रकुमारजी ,,
५१) श्रीमती भंवरीबाईजी ध० प० सेठ केशरीमलजी रांवका
५१) श्री घीसालालजी चांपानेरी वाले ब्यावर
४३) श्रीमती ब्र० बुद्धाबाईजी अजमेर
३२) श्री छगनलालजी पाटनी ,,
४५) श्री स्त्री समाज ,,

२७००) कुल

उक्त सर्व दातारोंको उनके ज्ञान-प्रसारमें आर्थिक सहयोग के लिए भूरि भूरि धन्यवाद।

इस ग्रन्थके शीघ्र प्रकाशनमें संघ-संचालक श्री १०५ क्षुल्लक सन्मतिसागरजीका पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है और उनकी ही प्रेरणासे उक्त आर्थिक सहायता प्राप्त हुई है। इसके लिए हम उनके बहुत आभारी हैं। दयोदयचम्पू के समान इसका भी सम्पादन श्री पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री ने परिश्रमके साथ अल्प समयमें सम्पन्न किया है। इसलिए ग्रन्थमाला उनका आभार प्रकट करती है।

मैं आशा करता हूँ कि पूज्य मुनिमहाराजकी अन्य अनुपम रचनाएं भी बहुत शीघ्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित होकर पाठकोंके कर-कमलोंमें पहुँचेंगी और वे महाराजकी सुन्दर रचनाओंका रसास्वादन कर कृतार्थताका अनुभव करेंगे।

दि० २५-११-६६

प्रधानाध्यापक दि० जैन विद्यालय ब्यावर —प्रकाशचन्द्र जैन

सम्पादकीय

परम पूज्य श्री १०८ मुनि श्री ज्ञानसागरजी महाराज के द्वारा संस्कृत भाषा में निर्मित यह सुदर्शनोदय काव्य पाठकों के कर-कमलों में उपस्थित है। ब्रह्मचर्य एवं शीलव्रत में अनुपम प्रसिद्धि को प्राप्त सुदर्शन सेठ का चरित इसमें वर्णन किया गया है। अभी तक इनके चरित का वर्णन करने वाले जितने भी ग्रन्थ या कथानक मिले हैं, उन सब में काव्य की दृष्टि से इस सुदर्शनोदय का विशेष महत्त्व है, इस बात को पाठकगण इसे पढ़ते हुए स्वयं ही अनुभव करेंगे। संस्कृत वाङ्मय में जैन एवं जैनेतर विद्वानों के द्वारा जितने भी काव्य-ग्रन्थ रचे गये हैं, उनमें भी प्रस्तुत सुदर्शनोदय की रचना के समान अन्य रचनाएं बहुत ही कम दृष्टिगोचर होती हैं। संस्कृत भाषा के प्रसिद्ध छन्दों में रचना करना बहुत बड़े पाण्डित्य का कार्य है, उसमें भी हिन्दी भाषा के अनेक प्रसिद्ध छन्दों में एवं प्रचलित राग-रागणियों मे तो संस्कृत काव्य की रचना करना और भी महान् पाण्डित्य की अपेक्षा रखता है। हम देखते हैं कि मुनिश्री को अपने इस अनुपम प्रयास मे पूर्ण सफलता मिली है और उनकी प्रस्तुत रचना से संस्कृत वाङ्मय की और भी अधिक श्रीवृद्धि हुई है। जहां तक मेरी जानकारी है, इधर पांच सौ वर्षों के भीतर ऐसी सुन्दर एवं उत्कृष्ट काव्य-रचना करने वाला अन्य कोई विद्वान् जैन सम्प्रदाय में नहीं हुआ है। ऐसी अनुपम रचना के लिए जैन सम्प्रदाय ही नहीं, सारा भारतीय विद्वत्समाज मुनिश्री का आभारी है।

मूल ग्रन्थ के मुद्रित फार्म हमने कुछ विशिष्ट विद्वानों के पास प्रस्तावना लिखने और अपना अभिप्राय प्रकट करने के लिए भेजे थे। हमें हर्ष है कि उनमें से काशी के दो विद्वानों ने हमारे निवेदन पर अपना अभिप्राय लिखकर भेजा है। उनमें प्रथम

विद्वान् हैं श्रीमान् पं० गोविन्द नरहरि बैजापुरकर, एम० ए०, न्याय वेदान्त-साहित्याचार्य। आप काशी के श्री स्याद्वाद महाविद्यालय में संस्कृताध्यापक और श्री भारत धर्म महामण्डल के प्रमुख संस्कृत पत्र 'सूर्योदय' के सम्पादक हैं। आपने संस्कृत में अपना अभिप्राय लिखकर भेजा है, जो कि 'आमुख' शीर्षक से प्रस्तावना के पूर्व हिन्दी अनुवाद के साथ दिया जा रहा है। दूसरे विद्वान् हैं - वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के जैन दर्शनाध्यापक श्रीमान् पं० अमृतलाल जी साहित्याचार्य। आपने काव्य की कसौटी पर कसते हुए प्रस्तुत काव्य की मीमांसा लिखकर भेजी है, जो कि आगे 'काव्य-कसौटी' शीर्षक से दी जा रही है, जिसमें आपने मूल ग्रन्थ को शत-प्रतिशत शुद्ध सत्काव्य बतलाया है। हम उक्त दोनों ही महानुभावों के अत्यन्त आभारी हैं, जिन्होंने हमारी प्रार्थना पर समय निकाल कर अपने अभिमत लिखकर भेजे।

सुदर्शनोदयकार को अन्त्य अनुप्रास रखने के लिए कितने ही स्थलों पर अनेक कठिन और अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है। जैसे—प्रथम सर्ग के सातवें श्लोक में 'गण्ड' शब्द के साथ समानता रखने के लिए 'पण्ड' शब्द का प्रयोग किया है। बहुत कम ही विद्वानों को ज्ञात होगा कि 'पण्ड' शब्द नपुंसकार्थक है, विश्व-लोचन कोष में 'पण्डःषण्ढे' शब्द पाया जाता है। ग्रन्थकार ने अपनी प्राय. सभी रचनाओं में इसी कोष-गत शब्दों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार लोग 'तल्प' शब्द के 'शय्या' अर्थ से ही परिचित हैं, पर यह शब्द स्त्री-वाचक भी है, यह इसी कोष से प्रमाणित है। इसलिये विद्वानों को यदि किसी खास शब्द के अर्थ में कुछ सन्देह प्रतीत हो, तो उसके अर्थ का निर्णय वे उक्त कोष से करें।

प्रस्तुत काव्य के निर्माता ने हमें बताया कि पंचम सर्ग के प्रारम्भ में जो प्रभाती दी गई है, उसके प्रथम चरण के 'अहो प्रभातो

जालो आलो' वाक्य में प्रभात शब्द के नपुंसकलिंग होते हुए भी 'आलु' शब्द के पुल्लिंग होने के कारण एक सा अनुप्रास रखने के लिए उसे पुल्लिंग रूप से प्रयोग करना पड़ा है। इसी प्रकार अनुप्रास के सौन्दर्य की दृष्टि से सुन्दर, उत्तर और मधुर आदि शब्दों के स्थान में क्रमशः सुन्दल, उत्तल और मधुल आदि शब्दों का प्रयोग किया गया हैं, क्योंकि संस्कृत साहित्य में 'र' के स्थान में 'ल' और 'ल' के स्थान में 'र' का प्रयोग विधेय माना गया है।

सुदर्शनोदय की मूल रचना के साथ हिन्दी में भी विस्तृत व्याख्या मुनिश्री ने ही लिखी है। पर पुरानी शैली में लिखी होने के कारण मुनिश्री की आज्ञा से उसी के आधार पर यह नया अनुवाद मैंने किया है। अत्यन्त सावधानी रखने पर भी मूल श्लोकों के अति क्लिष्ट एवं गम्भीरार्थक होने से, तथा श्लिष्ट एवं द्व्यर्थक शब्दों के प्रयोगों की बहुलता से तीन स्थलों पर अनुवाद में कुछ स्खलन रह गया है, जिसकी ओर मुनिश्री ने ही मेरा ध्यान आकृष्ट किया और उनके संकेतानुसार उन स्थलों का संशोधित अर्थ परिशिष्ट में दिया गया।

यहां यह लिखते हुए मुझे कोई संकोच नहीं है कि साहित्य मेरा प्रधान विषय नहीं है। फिर ऐसे कठिन काव्य का हिन्दी अनुवाद करना तो और भी कठिनतर कार्य है। तथापि हिन्दी अनुवाद में मूल के भाव को व्यक्त करने में जो कुछ भी थोड़ी बहुत सफलता मुझे मिली है, उसका सारा श्रेय मुनिश्री द्वारा लिखित हिन्दी व्याख्या का ही है। और जो कमी या त्रुटि रह गई है. वह मेरी है। प्रूफ-संशोधन में सावधानी रखने पर भी प्रेस की असावधानी से अनेक अशुद्धियां रह गई हैं, जिनका संशोधन शुद्धि-पत्र में किया गया है। पाठकों से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का स्वाध्याय करने के पूर्व रह गई अशुद्धियों को शुद्ध करके पढ़ें।

लोगों की कथनी और करनी में बहुधा अन्तर देखा जाता है। लोकोक्ति है—'पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते जन न घनेरे।' पर मुनिश्री इसके अपवाद हैं। उन्होंने प्रस्तुत काव्य में गृहस्थ के लिए जिस धर्म का उपदेश दिया, उसे उन्होंने गृह-दशा में स्वयं पालन किया है। तथा जिस मुनि धर्म का उपदेश दिया, आज उसे वे स्वयं पालन कर रहे हैं।

सुदर्शनोदय के समान ही भगवान् महावीर के चरित का आश्रय लेकर आपने 'वीरोदय काव्य' की भी एक उत्तम रचना की है, जो हिन्दी अनुवाद के साथ बहुत शीघ्र पाठकों के कर-कमलों में पहुँचेगा। आपके द्वारा रचित जयोदय महाकाव्य एक बार मूल-मात्र प्रकाशित हो चुका है। विद्वत्समाज ने उसका बहुत आदर किया और महाराज से उसकी संस्कृत टीका लिखने के लिए प्रेरणा की। महाराज ने उसके ४-५ कठिन सर्गों की संस्कृत टीका पहिले कर रखी थी। हमारी प्रार्थना पर पिछले दिनों आपने उसके शेष सर्गों की भी संस्कृत टीका लिख दी है। उसके हिन्दी अनुवाद के लिए भी प्रयत्न चालू है और हम आशा करते हैं कि वीरोदय के प्रकाशित होने के अनन्तर ही जयोदय महाकाव्य भी संस्कृत टीका और हिन्दी अनुवाद के साथ शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

अन्त में विद्वत्समाज से हमारा निवेदन है कि मुनिश्री ने जिस अनवरत श्रम से जीवन की अनेक अमूल्य घड़ियों में एकाग्र होकर यह अनुपम साधना जिस उद्देश्य से की है, उसे कार्य रूप में परिणत करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रस्तुत ग्रन्थ को जैन परीक्षालयों एवं संस्कृत विश्वविद्यालयों के पठनक्रम में निर्वाचित कराकर, पठन-पाठन में स्थान देकर और मुनिश्री की भावना को कार्यरूप में परिणत कर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करें।

ब्यावर
२५-११-६५

—हीरालाल शास्त्री

आमुखम्

पूर्वाश्रमे बालब्रह्मचारिभिः श्रीभूरामलाभिधैः सपदि श्रीपूज्य-मुनिज्ञानसागराभिधैर्विरचितं 'सुदर्शनोदय' नामकाव्यमस्माभिः विहङ्गमदृशा समवलोकितम् । नवसर्गात्मकमिदं चम्पापुरनगरस्थ-सुदर्शन-वणिजश्चरितं वर्णयत् जिनसम्मतां मोक्षलक्ष्मीं पुष्णाति । धीरोदात्तस्य नायकस्य कथावस्तु एव एतादृशं कौतूहलावहं कविना कवयितुं निर्वाचितं यत्काव्यस्यास्य आद्यन्तपाठस्य औत्सुक्यं न शमयति, प्रतिसर्गमुत्तरोत्तरं तद्वर्धत एव । प्रसन्नगम्भीरया वैदर्भी-रीत्या प्रवहति सारस्वतस्रोतसि सहृदयपाठक-मनोमीनाः सविलासं विवर्तनानि आवर्तयन्ति । अनुप्रास-श्लेषोपमोत्प्रेक्षाविरोधाभासादयोऽलङ्कारास्तत्सविशेषमुज्ज्वलयन्ति भूषयन्ति च । श्यामकल्याण-कव्वाली-प्रभाती-सारङ्ग-काफी-प्रभृतिरागाणां कलध्वनिस्तस्य स्वाभाविकं कलकलं द्विगुणयत् काव्यान्तरदुर्लभं दिव्यं सङ्गीतकं रचयति । महाकाव्यानुगुणा नगरवर्णन-नायिकावर्णन-विलासवर्णन-निसर्ग-वर्णनादयो गुणा अपि सहजत एव यथाप्रसङ्गमत्र गुम्फिताः । सत्यपि महाकाव्येऽस्मिन् जैनाचार-दर्शनाम्भोधिमथनसमुत्पन्ननवनीतं तथा कौशलेन समालिम्पितं यथाऽत्र काव्यस्य कान्तासम्मितोपयोगिता मूर्ति-मती परिदृश्येत । न केवलमिदं दर्शनम्, धर्मश्च भगवतो जिनराजस्य मुनेः श्रावकादेर्वा मोक्षमार्गाधिष्ठितस्यैव मुखादुपदिष्टः कविना, विलासिनी ब्राह्मणी-महिषी-नर्तकीप्रभृतीनां शुद्धसांसारिकविषय-लोलुपानां मुखेभ्योऽपि समुपदिष्टो व्यञ्जयति धर्म-दर्शननिर्णये सदैव प्रविवेकिना भाव्यम्, आपात-दर्शनं तत्र कदाचिद् भ्रामकमपि सम्भवेत् । अन्यच्च—तदा तादृशा परमवैषयिका अपि जनाः शास्त्र-दर्शनतत्त्वज्ञा आसन्निति तेषां बहुलप्रचारमपि संसूचयति ।

इत्थं काव्यस्यास्य परिशीलनेन समस्तकाव्यसुलभसौन्दर्यस्य दर्शनेऽपि मूलतो वैराग्यस्य तेन च मोक्षलक्ष्म्या अधिगम एव कवेः प्रतिपाद्यतरं प्रमुखं तत्त्वं प्रतिभाति। यच्च श्रीमतां मुनिवराणां ज्ञानसागरदेवानां अद्य यावत् व्यापिनो जीवनस्य सर्वथा समनुरूपम्। महानुभावा इमे वाराणसेय-स्याद्वादमहाविद्यालयस्य भूतपूर्वस्नातकाः बालब्रह्मचारिणःवाग्देव्याः सहजकृपापात्राः। छात्रजीवनेऽपि एभिः परावलम्बिता नानुसृता। किमपि कार्यं कृत्वा ततो लब्धं धनं स्थानीय-छात्रालये प्रतिकररूपेण दत्वैव उशन्ति स्म। नैषधीयचरितवत् महाकाव्यनिर्माणस्य परमा समुत्कण्ठाऽऽसीत् भवतां हृदि। तदनुसारं भवद्भिः जयोदयनामकं काव्यं विरचितं चिरप्रकाशितञ्च। ततः परं मुनिवर्यैरिदं काव्यं निर्मितम्। काव्यस्यास्य भाषानुवादोऽपि पाण्डित्यपूर्ण. मविशेष कवेर्भावाभिव्यञ्जकः। वयमस्य काव्यस्य बहुशः प्रचारं कामयमानाः कविवरस्य स्वागतं व्याहरामः।

१६-११-६६
घासीटोला वाराणसी

गोविन्द नरहरि वैजापुरकरः
एम. ए. न्याय-वेदान्त-साहित्याचार्यः
'सूर्योदय' सम्पादकः
साहित्याध्यापक :
श्री स्याद्वादमहाविद्यालय काशी

हिन्दी अनुवाद :

गृहाश्रम में बाल ब्रह्मचारी श्री भूरामल नाम से प्रसिद्ध और अब श्री पूज्य मुनि ज्ञानसागर नाम से कहे जाने वाले महापुरुष के द्वारा विरचित इस सुदर्शनोदय नामक काव्य को हमने विहङ्गम दृष्टि से देखा। नौ सर्गोंवाला यह काव्य चम्पापुरी के सुदर्शन सेठ का चरित वर्णन करता हुआ जिनोपदिष्ट मोक्ष-लक्ष्मी का पोषण

करता है। प्रस्तुत काव्य के धीरोदात्त नायक की ऐसी कौतूहल-जनक कथा-वस्तु कवि ने अपनी कविता के लिए चुनी है कि वह इस काव्य के आद्योपान्त पढ़ने की उत्सुकता को शान्त नहीं करती, प्रत्युत उत्तरोत्तर प्रतिसर्ग वह बढ़ती ही जाती है। प्रसन्न एवं गम्भीर वैदर्भी रीति से प्रवहमान इस सरस्वती नदी के प्रवाह में सहृदय पाठकों के मनरूप मीन विलासपूर्वक उद्वर्तन-निवर्तन करने लगते हैं। अनुप्रास श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा और विरोधाभास आदि अलङ्कार इसे विशेष रूप से उज्ज्वल और विभूषित करते हैं। श्यामकल्याण, कव्वाली; प्रभाती, मारग, काफी इत्यादि रागों की सुन्दर ध्वनि उसकी स्वाभाविक सुन्दरता को दुगुणी करती हुई अन्य काव्यों में दुर्लभ ऐसे दिव्य संगीत को रचती है। महाकाव्य के अनुकूल नगर-वर्णन, नायिका-वर्णन, विलास-वर्णन, निसर्ग-वर्णन आदि गुण भी सहज रूप से इस काव्य में यथा-स्थान प्रसंग के अनुसार गूंथे गये हैं। महाकाव्य के होते हुए भी इसमें जैन आचार और दर्शन रूप समुद्र के मथन से उत्पन्न नवनीत (मक्खन) ऐसी कुशलता से समालिम्पित है कि जिससे इस काव्य की कान्ता-सम्मित सुन्दर उपयोगिता मूर्तिमती होकर दिखाई देती है यह काव्य केवल दर्शनशास्त्र ही नहीं है, बल्कि भगवान् जिनराज का धर्मशास्त्र भी है, जिसे कि कवि ने मोक्ष मार्ग पर चलने वाले मुनि और श्रावकादि के उद्देश्य से निर्माण किया है। विलासिनी ब्राह्मणी; राजरानी और नर्तकी वेश्या आदिक-जो कि एक मात्र सांसारिक विषयों के लोलुपी हैं-उनके मुखों से भी उपदेश कराया है जो यह अभिप्राय व्यक्त करता है कि धर्म और दर्शन के निर्णय में मनुष्य को सदा विवेकशील होना चाहिए, क्योंकि ऊपरी तौर से किसी वस्तु का देखना कदाचित् भ्रामक भी हो सकता है। दूसरी बात यह भी सूचित होती है कि उस समय ऐसे अति विषयी लोग भी शास्त्र और दर्शन के तत्त्वज्ञ थे, तथा उनका बहुलता से प्रचार था।

इस काव्य के परिशीलन से यह प्रतिभासित होता है कि इसमें काव्य-सुलभ पूर्ण सौन्दर्य के दर्शन होने पर भी मूल में वैराग्य और उसके द्वारा मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति ही कवि का प्रमुख प्रतिपाद्य तत्त्व रहा है। जो कि श्रीमान् मुनिवर्य ज्ञानसागरजी महाराज के आज तक के जीवन में व्याप्त धर्म के सर्वथा अनुरूप है। स्याद्वाद महाविद्यालय काशी के भूतपूर्व स्नातक महानुभाव यतः बालब्रह्मचारी है अतः सरस्वती देवी के ये सहज कृपापात्र बने हैं। छात्र-जीवन में भी इन्होंने पराया अवलम्बन नहीं लिया, किन्तु किसी भी कार्य को करके उससे प्राप्त धन को लाकर और छात्रालय मे शुल्क रूप से दे करके ही रहते थे। नैषधचरित के समान एक महाकाव्य के रचने की आपके हृदय मे परम उत्कण्ठा थी। तदनुसार आपने 'जयोदय' नामक काव्य रचा जो, बहुत पहले प्रकाशित हो चुका है। तत्पश्चात् मुनिवर्य ने यह काव्य रचा है। इस काव्य का हिन्दी भाषा मे अनुवाद भी पाण्डित्य-पूर्ण और कवि के भाव का भली भांति अभिव्यञ्जक है। हम इस काव्य के बहु प्रचार की कामना करते हुए कविवर का स्वागत करते हैं।

—— ——

काव्य-कसौटी

प्रस्तुत काव्य जयोदय महाकाव्य का अनुज है। फलतः इसमें भी अथ से इति तक उसी जैसी शाब्दी छटा दृष्टि-गोचर होती है। इसका तुलनात्मक अध्ययन जो भी करेंगे उन्हें नैषध की स्मृति न हो यह सभव नहीं। उपलब्ध जैनेतर महाकाव्यों में नैषध की रचना सर्वोत्कृष्ट मानी जा रही है। इसलिये यह कहा जाता है कि 'नैषधं विद्वदोषधम'।

जिस कथानक को पुराण और इतिहास प्रस्तुत करते हैं उसी को यदि एक प्रतिभाशाली कवि भी प्रस्तुत करता है तो वह उक्ति-वैचित्र्य से प्रभावित हो कर उन दोनों से भिन्न ही दृष्टिगोचर होने लगता है। अलङ्कारों की सम्पुट उस में सरसता ला देती है और इसीलिए वह पाठक के मन को लुभा लेता है। इसी दृष्टि से आचार्य वामन ने उसकी ग्राह्यता का प्रतिपादन किया है— 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्' (काव्यालङ्कार सूत्र १,१,१)

अलङ्कारों के सन्निवेश ने प्रस्तुत काव्य की सुन्दरता को बढ़ा दिया है। इसका कुछ आभास निम्नलिखित श्लोकों से हो सकेगा.--

१,१ वीरप्रभुः स्वीयसुबुद्धिनावा भवाब्धितीरं गमितप्रजावान् ।
सुधीवराराध्यगुणान्वयावाग् यस्यास्ति नः शास्ति कवित्वगावा ॥१॥

१,२२ उद्योतयन्तोऽपि परार्थमन्तर्घोषा बहुव्रीहिमया लसन्तः ।
यतित्वमञ्चन्त्यविकल्पभावान् नृपा इवामी महिषीश्वरा वा ॥२॥

१,३३ पलाशिता किंशुक एव यत्र द्विरेफवर्गे मधुपत्वमत्र ।
विरोधिता पञ्जर एव भाति निरौष्ठ्यकाव्येष्वपवादिता तु ।।३।।

२,२ द्विजिह्वतातीतगुणोऽप्यहीनः किलानकोऽप्येष पुनः प्रवीणः ।
विचारवानप्यविरुद्धवृत्तिर्मदोज्झितो दानमयप्रवृत्तिः ।।४।।

२,६ कापीव वापी सरसा सुवृत्ता मुद्रे व शाटीव गुणैकसत्ता ।
विधोः कला वा तिथिसत्कृतीद्धालङ्कारपूर्णा कवितेव सिद्धा ।।५।।

३,२६ द्रुतमाप्य रुदन्नथाम्बया पय आरात्तनयोस्तु पायितः ।
शनकैः समितोऽपि तन्द्रिता स्म न शेते पुनरेष शायिनः ।।६।।

३,३८ अहो किलाश्लेषि मनोरमायां त्वयाऽनुरूपेण मनोरमायाम् ।
जहासि मत्तोऽपि न किन्तु मायां चिदेति मेऽत्यर्थमकिन्तु मायाम् ।।७

६,५२ भाग्यतस्तमधीयानो विषयाननुयाति य. ।
चिन्तामणिं क्षिपत्येष काकोड्डयनहेतवे ।।८।।

यहां क्रमशः (१) रूपक, यमक और अनुप्रास (२) पूर्णोपमा (३) परिसंख्या (४ विरोधाभास (५) श्लेषोपमा (६) स्वभावोक्ति (७, यमक और (८) निदर्शना अलङ्कारों का चमत्कार द्रष्टव्य है।

काव्य के शरीर का निर्माण शब्द और अर्थ से होता है। शब्दालङ्कार शब्द को और अर्थालङ्कार अर्थ को भूषित करते हैं।

प्रस्तुत काव्य में दोनों प्रकार के अलङ्कार आदि से अन्त तक विद्यमान हैं। काव्य की आत्मा रस होता है जिसे गुण अलकृत करते हैं। प्रस्तुत काव्य में शान्त रस प्रधान है जो प्रसाद गुण से विभूषित है। नैषध और धर्मशर्माभ्युदय की भांति इसमें वैदर्भी रीति है। निष्कर्ष यह कि एक सत्काव्य में जो विशेषताएं होनी चाहिये वे सब इस में हैं।

वाग्भट ने अपने अलङ्कार ग्रन्थ (१,८) में काव्य की चारुता के तीन हेतु बतलाये हैं-(१) किसी वर्ण को गुरु बनाने के लिए उसके आगे संयुक्त वर्णों का विन्यास (२ विसर्गों को लुप्त न करना और (३) विसन्धि का अभाव- (अ) अश्लीलता या कर्णकटुता आदि दोषों की उत्पादक यण आदि सन्धियों का परित्याग (ब) तथा सन्धि-रहित पदों का उपयोग।

प्रस्तुत काव्य में उन तीनों हेतु विद्यमान हैं। जैसे—

१,३१ जिनालयाः पर्वततुल्यगाथाः समग्रभूसंभवदेणनाथाः।
शृङ्गाग्रसंलग्नपयोदखण्डाः श्रीरोदसीदर्शितमानवण्डाः॥

यहां सात लघु वर्णों को संयुक्त वर्ण उनके आगे रख कर गुरु बनाया गया है। इस श्लोक में कुल मिलाकर पांच पद हैं—तीन ऊपर और दो नीचे, इन सभी के आगे विसर्ग रखे हुये हैं- उनका लोप नहीं हुआ और विरूप सन्धि या सन्धि का अभाव भी नहीं है।

अन्य शास्त्र अपने अपने विषयों पर प्रकाश डालते हैं पर सत्काव्य अनेकानेक विषयों पर। सुदर्शनोदय में उदात्तचरित सुदर्शन श्रेष्ठी का चरित वर्णित है, पर प्रसङ्गतः इसमें अन्यान्य विषयों का भी वर्णन किया गया है।

अनेक काव्यों के शृङ्गार वर्णन में अश्लीलता दृष्टिगोचर होती है, पर वह इसमें नहीं है।

साहित्य का संगीत के साथ-साथ चलना अत्यन्त आकर्षक होता है। प्रस्तुत कृति में अनेक राग-रागिनी वाले पद्य भी हैं। यह विशेषता अन्य जैन वा जैनेतर काव्यों में भी प्रायः दुर्लभ है।

व्रतों में ब्रह्मचर्य का का स्थान सर्वोपरि है। विकार के हेतुओं के उपस्थित होने पर भी सुदर्शन ब्रह्मचर्य से न डिगे। इनके जीवन-वृत्त को जो भी पढ़ेगा उसे सदाचारी बनने की प्रेरणा अवश्य मिलेगी।

हिन्दी अनुवाद अच्छा हुआ है। प्रस्तुत अनुवाद के बिना मूल काव्य को ठीक ठीक समझना कठिन है। परिशिष्ट में मूल को खोलने वाले संस्कृत टिप्पण यदि दिये जाते, तो अधिक अच्छा होता।

यह रचना सभी दृष्टियों से श्लाघ्य है और किसी भी परीक्षालय के शास्त्रि-कक्षा के पाठ्यक्रम में स्थान पाने योग्य है।

दि० १६-११-६६
संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

अमृतलाल जैन
साहित्य-दर्शनाचार्य

प्रस्तावना

संसार में जितने भी धर्म प्रचलित हैं उन सब ने अहिंसा के समान ब्रह्मचर्य या शीलव्रत का महत्त्व स्वीकार किया है। ब्रह्मचर्य की महत्ता पर आज तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है। संसार के और खास कर भारत के इतिहास में ऐसे अगणित महापुरुष हो गये हैं, जिन्होंने अपना विवाह किया ही नहीं, प्रत्युत आजीवन ब्रह्मचारी रहकर स्व-पर का कल्याण किया है। अनेक ऐसे भी गृहस्थ हुए हैं, जिन्होंने एक पत्नीव्रत अङ्गीकार कर उसे भले प्रकार पालन किया है, किन्तु ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत कम है, क्योंकि भारतवर्ष के इतिहास में जितने भी महान् पुरुषों के चरित दृष्टिगोचर होते हैं, उनमें उनकी अनेक स्त्रियों के होने का उल्लेख मिलता है। आज से अढ़ाई हजार वर्ष पहिले बहु-विवाह की आम प्रथा प्रचलित थी और लोग अनेक विवाह करते हुए अपने को भाग्यशाली समझते थे। ऐसे समय में सेठ सुदर्शन का एक पत्नीव्रत धारण करना और फिर तीन-तीन बार प्रबल बाधाएं आने पर भी अपने व्रत पर अटल बने रहना सचमुच उनकी महत्ता को प्रकट करता है और पुरुष समाज के सम्मुख एक उत्तम आदर्श उपस्थित करता है। जैन-जैनेतर शास्त्रों एवं पुराणों में स्त्रियों के शीलव्रत का माहात्म्य बताने वाले सहस्रों आख्यान मिलते हैं, पर सुदर्शन जैसे एक पत्नीव्रत वालों के नाम अंगुलियों पर गिनने लायक भी नहीं मिलते।

प्रस्तुत सुदर्शनोदय में वर्णित सुदर्शन का चरित सर्व प्रथम हमें हरिषेण के बृहत्कथा कोष में देखने को मिलता है। उसमें वह कथानक 'सुभग गोपाल' के नाम से दिया गया है। इसमें बतलाया गया है कि

अंगदेश की चम्पापुरी में दन्तिवाहन नाम का राजा था और अभया नाम की उसकी रानी थी। उसी नगरी में ऋषभदास नाम के एक सेठ थे और जिनदासी नाम की उनकी सेठानी थी। सेठकी गाय-भैंसों को चराने वाला एक सुभग नाम का गुवाला था। एक बार शीतकाल में जंगल से घर को आते हुए उसने एक स्थान पर ध्यानस्थ साधु को देखा और यह विचार करता हुआ घर चला गया कि ये साधु ऐसी ठंड की रात्रि कैसे व्यतीत करेंगे? प्रातःकाल आकर उसने देखा कि साधु उसी प्रकार समाधि में स्थित हैं। थोड़ी देर के बाद सूर्योदय हो जाने पर साधु ने समाधि खोली, प्राभातिक क्रियाएं कीं और 'णमो अरिहंताणं' (नमोऽर्हते) ऐसा कह वे आकाश में उडकर अन्यत्र चले गये। यह देखकर गुवाले के आश्चर्य का ठिकाना न रहा और वह सोचने लगा कि वे उक्त मंत्र के प्रभाव से आकाश में उड़कर चले गये हैं, अतः मैं भी इस मन्त्र की आराधना करके आकाशगामिनी विद्या सिद्ध करूंगा। तत्पश्चात् वह गुवाला प्रत्येक कार्य करते हुए उक्त मंत्र को जपने लगा। उसे उक्त मन्त्र बोलते हुए सेठ ने सुना तो उससे उसका कारण पूछा। उसने प्रत्यक्ष देखी घटना सुना दी। सेठ ने भी उसके जपते रहने की अनुमोदना की।

एक बार वह गाय-भैंसों को लेकर जंगल में गया हुआ था कि वे गंगा-पार किसी हरे भरे खेत में चरने को निकल गईं। यह गुवाल उन्हें वापिस लाने के लिए उक्त मन्त्र को बोलकर ज्यों ही गंगा में कूदा कि पानी के भीतर पड़े हुए किसी नुकीले काठ से टकरा जाने से उसकी मृत्यु हो गई और वह ऋषभदास सेठ की सेठानी के गर्भ में आ गया। जन्म होने पर इसका नाम सुदर्शन रखा गया। उसे सर्व विद्याओं और कलाओं में निपुण बनाया गया।

इसी चम्पानगरी में एक सागरदत्त सेठ रहते थे। उनके मनोरमा नाम की एक सर्वाङ्ग सुन्दरी लड़की थी। समयानुसार दोनों

का विवाह हो गया और सुदर्शन के पिता ने जिनदीक्षा ले ली। इधर सुदर्शन के दिन आनन्द से व्यतीत होने लगे। एक बार राजपुरोहित कपिल ब्राह्मण की स्त्री कपिला ने राजमार्ग से जाते हुए सुदर्शन को देखा और उनके अपूर्व सौन्दर्य पर मोहित हो गई। दूती के द्वारा पति की बीमारी के बहाने से उसने मकान के भीतर सुदर्शन को बुलवाया और उनका हाथ पकड़ कर अपनी काम-वासना को पूर्ण करने के लिए कहा। तब चतुर सुदर्शन ने अपने को 'नपुंसक' बता कर उससे छुटकारा पाया।

एक बार वसन्त ऋतु में वन-क्रीडा के लिए नगर के सब लोग गये। राजा के पीछे रानी अभया भी अपनी धाय और पुरोहितानी कपिला के साथ जा रही थी। मार्ग में एक सुन्दर बालक को गोद में लिए एक अति सुन्दर स्त्री को आते हुए कपिला ने देखा और रानी से पूछा—'यह किसकी स्त्री है ?' रानी ने बतलाया कि यह नगर-सेठ सुदर्शन की पत्नी मनोरमा है। कपिला तिरस्कार के साथ बोली—'कहीं नपुंसक के भी पुत्र होते हैं ?' रानी ने पूछा—तुम कैसे जानती हो कि सुदर्शन नपुंसक है ? तब कपिला ने सारी आप बीती कहानी रानी को सुना दी। सुनकर हंसते हुए रानी ने कहा—अरी कपिले, सेठ ने तुझे ठग लिया है। तुझसे अपना पिंड छुड़ाने के लिए उसने अपने को नपुंसक बता दिया, सो तू सच समझ गई ? तब कपिला अपनी झेंप मिटाती हुई बोली—यदि ऐसी बात है तो आप ही सेठ को अपने वश में करके अपनी चतुराई का परिचय देवें। कपिला की बातों का रानी पर रंग चढ़ गया और वह मन ही मन सुदर्शन को अपने जाल में फंसाने की सोचने लगी।

उद्यान से घर वापिस आने पर रानी ने अपना अभिप्राय अपनी पंडिता धाय से कहा। उसने रानी को बहुत समझाया, पर उसकी समझ में कुछ न आया। निदान पंडिता धाय ने कुंभार से सात

मिट्टी के पुतले बनवाये–जो कि आकार-प्रकार में ठीक सुदर्शन के समान थे। रात में उसे वस्त्र से ढक कर वह राज भवन में घुसने लगी। द्वारपाल ने उसे नहीं जाने दिया। धाय जबरन घुसने लगी तो द्वारपाल का धक्का पाकर उसने पुतले को पृथ्वी पर पटक दिया और रोना-धोना मचा दिया कि हाय, अब महारानीजी बिना पुतले के दर्शन किये पारणा कैसे करेंगी ? उसकी बात सुनकर द्वारपाल डर गया और बोला—पंडिते आज तू मुझे क्षमा कर, मुझ से भूल हो गई है। आगे से ऐसी भूल नहीं होगी। इस प्रकार वह पंडिता धाय प्रति-दिन एक-एक पुतला बिना रोक-टोक के राज भवन में लाती रही। आठवें दिन अष्टमी का प्रोषधोपवास ग्रहण कर सुदर्शन सेठ श्मशान में सदा की भांति कायोत्सर्ग धारण कर प्रतिमायोग से अवस्थित थे। पंडिता दासी ने आधी रात में वहां जाकर उन्हें अपनी पीठ पर लाद कर और ऊपर से वस्त्र ढककर रानी के महल में पहुंचा दिया। रात भर रानी ने सुदर्शन को डिगाने के लिए अनेक प्रयत्न किये, पर वे पाषाण-मूर्ति के समान सर्वथा अचल रहे। इतने में सवेरा हो गया। भेद प्रकट होने के भय से रानी ने अपना त्रिया-चरित्र फैलाया और सुदर्शन को राज-सेवकों ने पकड़ लिया। राजा ने उक्त घटना सुनकर उन्हें प्राण-दण्ड की आज्ञा देकर चाण्डाल को सौंप दिया। चाण्डाल ने श्मशान में जाकर उनपर ज्यों ही तलवार का प्रहार किया कि वह फूल-माला बनकर उनके गले का हार बन गई। देवताओं ने आकाश से सुदर्शन के शीलव्रत की प्रशंसा करते हुए पुष्प-वर्षा की। जब राजा को यह ज्ञान हुआ तो वह सुदर्शन के पास आकर अपनी भूल के लिए क्षमा मांगने लगा। सुदर्शन ने कहा—महाराज, इसमें आपका कोई दोष नहीं है। दोष तो मेरे पूर्वकृत कर्म का है। राजा ने सुदर्शन को बहुत मनाया, अपना राज्य तक देने की घोषणा की, मगर सुदर्शन ने तो पंडिता के द्वारा राज-भवन में लाते समय ही यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि

यदि मैं इस आपत्ति से बच गया, तो मुनि बन जाऊंगा । अतः सुदर्शन ने राज्य स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और घर जाकर अपना अभिप्राय मनोरमा से कहा । उसने कहा— 'जो तुम्हारी गति, सो मेरी गति' । सुनकर सुदर्शन प्रसन्न हुआ । दोनों जिनालय गये । भक्तिभाव से भगवान् का अभिषेक पूजन करके वहां विराजमान आचार्य से दोनों ने जिन दीक्षा लेली और सुदर्शन मुनि बनकर तथा मनोरमा आर्यिका बनकर विचरने लगे ।

इधर जब रानी को अपने रहस्य-भेद होने की बात ज्ञात आत्म-ग्लानि से फांसी लगा कर मर गई और व्यन्तरी देवी हुई । पंडिता धाय राजा के भय से भागकर पाटलिपुत्र की प्रसिद्ध वेश्या देवदत्ता की शरण में पहुँची । वहां जाकर उससे उसने अपनी सारी कहानी सुनाई और बोली—उस सुदर्शन जैसा सुन्दर पुरुष संसार में दूसरा नहीं है और संसार में कोई भी स्त्री उसे डिगाने में समर्थ नहीं है । देवदत्ता सुनकर बोली--एक बार यदि वह मेरे जाल में फंस पावे—तो देखूंगी कि वह कैसे बचके निकलता है ।

उधर सुदर्शन मुनिराज ग्रामानुग्राम विहार करते हुए एक दिन गोचरी के लिए पाटलिपुत्र पधारे । उन्हें आता हुआ देखकर पंडिता धाय बोली-देख देवदत्ता, वह सुदर्शन आ रहा है, अब अपनी करामात दिखा । यह सुनकर देवदत्ता ने अपनी दासी भेजकर उन्हें भोजन के लिए पड़िगाह लिया । सुदर्शन मुनिराज को घर के भीतर लेजाकर उसने सब किवाड़ बन्द कर दिये और देवदत्ता ने अपने हाव-भाव दिखाना प्रारम्भ किया । मगर काठ के पुतले के समान उन पर उसका जब कोई असर नहीं हुआ; तब उसने उन्हें अपनी शय्या पर पटक लिया, उनके अंगों को गुद गुदाया और उनका संचालन

किया। मगर सुदर्शन तो मुर्दे के समान अडोल पड़े रहे। वेश्या ने तीन दिन तक अपनी सभी संभव कलाओं का प्रयोग किया, पर उन पर एक का भी असर नहीं हुआ। अन्तमें हताश होकर उसने सुदर्शन को रातके अंधेरे में ही श्मशान में डलवा दिया।

सुदर्शन मुनिराज के श्मशान में ध्यानस्थ होते ही वह व्यन्तरी देवी आकाश मार्ग से विहार करती हुई उधर से आ निकली। सुदर्शन को देखते ही उसे अपना पूर्व भव याद आ गया और बदला लेने की भावना से उसने रात दिन तक महाघोर उपसर्ग किया। परन्तु वह उन्हें विचलित नहीं कर सकी। इधर चार घातियां कर्मों के क्षय होने से सुदर्शन मुनिराज को केवलज्ञान प्रकट हो गया। देवों ने आकर आठ प्रातिहार्यों की रचना की। सारे नगर निवासी लोग उनकी पूजा वन्दना को आये। वह देवदत्ता वेश्या और पंडिता धाय भी वन्दना को गई। उपसर्ग से पराभूत व्यन्तरी भी वन्दना को गई। सुदर्शन केवली का धर्मोपदेश सुनकर कितने ही लोग मुनि बन गये, कितनों ने श्रावक के व्रत धारण किये। कितनी ही स्त्रियां आर्यिका और कितनी ही श्राविकाएं बन गईं। उस वेश्या और पंडिता ने भी यथा-योग्य व्रत ग्रहण किये और व्यन्तरी ने सम्यक्त्व को ग्रहण किया। पुनः सुदर्शन केवली विहार कर धर्मोपदेश देते हुए जीवन के अन्त में अघाति कर्मों का क्षय कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

सुदर्शन का यही कथानक कुछ पल्लवित करके परवर्ती ग्रन्थकारों ने लिखा है, जिनमें अपभ्रंश सुदर्शनचरित के कर्त्ता आ० नयनन्दि, संस्कृत सुदर्शन चरित के कर्त्ता आ० सकल कीर्ति और आराधना कथाकोश के कर्त्ता ब्रह्म नेमिदत्त प्रमुख हैं। सबसे अन्त में प्रस्तुत सुदर्शनोदय की रचना हुई है। इन सबमें वर्णित चरित में जो खास अन्तर दृष्टिगोचर होता है, वह इस प्रकार है:—

(१) हरिषेण ने अपने कथा कोश में सुदर्शन का न कामदेव के रूप में उल्लेख किया है और अन्तःकृत् केवली के रूप में ही। हां, केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर उनके आठ प्रातिहार्यों का वर्णन करते हुए लिखा है कि मुण्डकेवली के समवसरण की रचना नहीं होती है। यथा—

छत्रत्रयं समुत्तुङ्गं प्राकारो हरिविष्टरम्।
मुण्डकेवलिनो नास्ति मण्ण समवादिकम्॥ १५७॥
छत्रमेकं शशिच्छायं भद्रपीठं मनोहरम्।
मुण्डकेवलिनो नूनं द्वयमेतत्प्रजायते॥ १५८॥

इस उल्लेख से यह सिद्ध है कि सुदर्शन मुण्ड या सामान्य केवली हुए हैं और सामान्य केवलियों के समवसरण-रचना नहीं होती। आठ प्रातिहार्य अवश्य होते है, पर तीन छत्र की जगह एक श्वेत छत्र और सिंहासन की जगह मनोहर भद्रपीठ होता है।

किन्तु नयनन्दि ने अपने सुदंसण-चरिउ में तथा सकलकीर्ति ने अपने सुदर्शन चरित में उन्हें स्पष्ट रूप से चौबीसवां कामदेव और वर्धमान तीर्थंकर के समय में होने वाले दश अन्तःकृत्केवलियों में से पांचवां अन्तःकृत्केवली माना है। यथा—

(१) अन्तयड सु केवलि सुप्पसिद्ध, ते दह दह संखए गुणसमिद्ध।
रिसहाइ जिणिंदहं तित्थे ताम, इह होंति चरम तित्थयरु जाम॥
तित्थे जाउ कय कम्म हाणि, पंचमु तहिं अंतयडणाणि णामेण।
सुदंसणु तहो चरित्तु, पारंभिउ अयाणहुँ पवित्तु॥

(ऐ० स० भ० प्र० पत्र २ A.)

(२) इय सुविणोयहिं परिमाणंगउ अच्छइ।
नर वइ हे पमाय पुण्णुवंतु संपच्छइ॥

(ऐ० स० भ० प्र० पत्र ३५ B.)

उक्त दो उल्लेखों में से प्रथम मे पांचवें अन्त. कृत्केवली होने का तथा दूसरे में चरम अनङ्ग अर्थात् अन्तिम कामदेव होने का स्पष्ट निर्देश है।

सकल कीर्त्ति ने भी दोनों ही रूपों में सुदर्शन को स्वीकार किया है। यथा—

> श्री वर्धमानदेवस्य यो वैश्यकुलखांशुमाम्।
> अन्तकृत्केवली पंचमो बभूवाखिलार्थदृक् ॥ १.१४ ॥
> कामदेवश्च दिव्याङ्गो रौद्रघोरोपसर्गजित्।
> त्रिजगन्नाथवंद्यार्च्य सुदर्शनमुनीश्वर ॥ १ १५ ॥

आ० हरिषेण ने कथानक के संक्षिप्त रूप से वर्णन करने के कारण भले ही उनका कामदेव के रूप से उल्लेख न किया हो। पर मुण्ड केवली के रूप में उनका उल्लेख अवश्य महत्त्व रखता है। नयनन्दि और सकलकीर्त्ति के द्वारा सुदर्शन को वर्धमान तीर्थंकर के तीर्थ का पांचवां अन्तकृत्केवली मानना भी आगमसम्मत है, इसकी पुष्टि तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक और धवला टीका मे होती है। यथा—

"संसारस्यान्त: कृतो यैस्ते अन्तकृत. नमि[१]- मतङ्ग[२]-सोमिल[३]-रामपुत्र[४]-सुदर्शन[५]-यम[६]-लीक[७]-वलीक[८]-किष्कम्बल-[९] पालाम्बष्टपुत्रा[१०] इत्येते दश वर्धमान तीर्थङ्करतीर्थे।

(तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सूत्र २० । धवला पु० १ पृ० १०३)

इस उल्लेख में सुदर्शन का नाम पांचवें अन्त.कृत्केवली के रूप में दिया गया है। जहां तक हमारी जानकारी है—अन्त:कृत-केवली उपसर्ग सहते सहते ही कर्मों का क्षपण करते हुए मुक्त हो जाते हैं, जैसे तीन पाण्डव उपसर्ग सहते हुए ही मुक्त हुए हैं। पर सुदर्शन को तो उपसर्ग होते हुए केवल ज्ञान प्रकट होने की बात कह

कर नयनन्दि और सकल कीर्त्ति भी हरिषेण के समान उनकी गन्ध-कुटी की रचना का तथा धर्मोपदेश देने और विहार करने का वर्णन करते हैं। सो यह बात विचारणीय है कि क्या अन्त:कृत्केवली के उक्त सब बातों का होना संभव है। और यदि सम्भव है, तो हरिषेण ने उन्हें अन्त:कृत्केवली न कह कर मुण्डकेवली क्यों कहा ? जब कि व्यन्तरी के द्वारा सात दिन तक घोर उपसर्ग सहने का वे भी उल्लेख करते हैं ?

सुदर्शनोदयकारने सुदर्शन का अन्तिम कामदेव के रूप से तो उल्लेख किया है, पर अन्त:कृत्केवली के रूप से नहीं। किन्तु सुदर्शन को केवल ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् ही उन्होंने उनके निरजन पद प्राप्त करने का वर्णन करके उनके अन्त:कृत्केवली होने की प्रकारान्तर से सूचना ही की है। यही कारण है कि उन्होंने उनकी गन्धकुटी रची जाने, उपदेश देने और विहार आदि का कुछ भी वर्णन नहीं किया है।

(२) हरिषेण ने चम्पा के राजा का नाम 'दन्ति वाहन' दिया है, पर शेष आचार्यों ने धात्रीवाहन नाम दिया।

(३ हरिषेण ने सुदर्शन के गर्भ में आने के सूचक स्वप्नादिकों का वर्णन नहीं किया है, पर शेष सबने उन्हीं पांच स्वप्नों का उल्लेख किया है, जिन्हें कि सुदर्शनोदयकार ने लिखा है।

(४) हरिषेण ने और सुदर्शनोदयकार ने सुदर्शन की जन्म तिथि का कोई निर्देश नहीं किया है, जबकि नयनन्दि और सकल-कीर्त्ति ने सुदर्शन का जन्म पौष सुदी ४ का बतलाया है। नयनन्दि तो बुधवार का भी उल्लेख किया है यथा—

पोसे पहुत्तं सेय पक्खए हुए, बुहवारए चउत्थि तिहि संजुए।

(ब्या० भ० प्रति प० १२ B)

(५) सुभग गुवाला जब नदी में कूदा और काठ की चोट से मरणोन्मुख हुआ, तो उसने निदान किया कि इस मन्त्र के फल से मैं इन्हीं ऋषभदास सेठ के घर में उत्पन्न होऊं। ऐसा स्पष्ट वर्णन नयनन्दि और सकल कीर्ति करते हैं। यथा–

गोत्रो वि णियाणे तहि मरे वि, थिउ वणिपिय उयरे अवयरे वि।

(सुदंसणचरिउ, पत्र ११)

निदानमकरोदित्थमेतन्मंत्रफलेन भो।
अस्यैव श्रेष्ठिनो नूनं भविष्यामि सुतो महान्॥

(सुदर्शन चरित, सर्ग ५ श्लोक ६५)

(६) हरिषेण ने सुभग गुवाले के द्वारा शीतपरीषह सहने वाले मुनिराज की शीतबाधा को अग्नि जलाकर दूर करने का कोई वर्णन नहीं किया है। नयनन्दि और सकल कीर्ति ने उसका उल्लेख किया है।

(७) हरिषेण ने सुदर्शन के एक गुवाल भव का ही वर्णन किया है, जब कि शेष सबने भील के भव से लेकर अनेक भवों का वर्णन किया है।

(८) शेष सब चरित-कारों की अपेक्षा नयनन्दि ने सुदर्शन का चरित विस्तार से लिखा है। उनकी वर्णन शैली भी परिष्कृत, परिमार्जित एवं अपूर्व है, सुदर्शन के जन्म समय का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—पुत्र के जन्म लेते ही परिजनों के कल्याण की वृद्धि हुई, जल वर्षा हुई, बनों में फल-फूल खूब फले-फूले, कूपों में पानी भर गया, और गायों के स्तनों में दूध की खूब वृद्धि हुई।

(९) नयनन्दि और सुदर्शनोदयकार ने सुदर्शन की बाल-क्रीड़ाओं का बहुत सुन्दर वर्णन किया है।

(१०) नयनन्दि ने लिखा है कि सुदर्शन जब आठ वर्ष का हुआ, तब पिता ने उसे गुरु को पढ़ाने के लिए सौंप दिया। सुदर्शन

ने १६ वर्ष की अवस्था होने तक गुरु से शब्दानुशासन, लिंगानुशासन, तर्क, काव्य, छंदशास्त्र और राजनीति को पढ़ा। तथा मल्ल-युद्ध, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म, अग्निस्तम्भन, इन्द्रजाल आदि विद्याओं को भी सीखा।

(११) नयनन्दि ने षोडश वर्षीय सुदर्शन कुमार के शरीर सौन्दर्य का बहुत ही सजीव वर्णन किया है और लिखा है कि गुरु के पास से विद्या पढ़ कर घर आने पर, सुदर्शन जब कभी नगर के जिस किसी भी मार्ग से निकल कर बाहर घूमने जाते, तो पुर-वासिनी स्त्रियां उसे देखकर विह्वल हो जातीं और वस्त्राभूषण पहिनने तक की भी उन्हें सुध-बुध नहीं रहती थी।

(१२) मनोरमा के शरीर-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए प्रसंग वश नयनन्दि ने विभिन्न देशों की स्त्रियों के स्वभाव-गत वा शरीर-गत विशेषताओं का भी अपूर्ण वर्णन किया है।

(१३) नयनन्दि और सकलकीर्त्ति ने सुदर्शन के विवाह का मुहूर्त्त शाधने वाले श्रीधर ज्योतिषी के नाम का भी उल्लेख किया है और बताया है कि सुदर्शन मनोरमा का विवाह वैशाख सुदी पंचमी को हुआ।

(१४) नयनन्दिने सुदर्शन के गार्हस्थिक जीवन का भी बहुत सुन्दर वर्णन किया है।

(१५) ऋषभदास सेठ के दीक्षित होते समय ही सुदर्शन ने एक पत्नी व्रत के साथ श्रावक के व्रत ग्रहण किये, इसका सभी ने समान रूप से वर्णन किया है। कपिला ब्राह्मणी द्वारा छल-पूर्वक बुलाने आदि की घटनाएं भी सभी ने समान रूप से वर्णन की हैं।

(१६) नयनन्दि लिखते हैं कि जब अन्तिम बार सुदर्शन प्रोषधोपवास के दिन श्मशान को जाने लगे-तो उन्हें अनेक अप-शकुन हुए। इन अपशकुनों का भी उन्होंने बड़ा अनुभव-पूर्ण वर्णन

किया है। इसी स्थल पर उन्होंने श्मशान की भयानकता का जो वर्णन किया है, उसे पढ़ते हुए एक बार हृदय कांपने लगता है।

(१७) पंडिता दासी सुदर्शन को ध्यानस्थ देखकर उनसे कहती है कि यदि धर्म में जीव-दया को धर्म बतलाया है, तो मेरे साथ चलकर मरती राजरानी की रक्षा कर।

(१८) रानी की प्रार्थना पर भी जब सुदर्शन ध्यानस्थ मौन रहते हैं, तब दोनों की चित्त-वृत्तियों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन नयनन्दि ने किया है। सुदर्शन रानी के राग भरे वचनों को सुनकर वा काय की कुचेष्टा को देखकर मनमें विचारते हैं कि सभी सांसारिक सुख अनन्त बार मिले और आगे फिर भी उनका मिलना सुलभ है। किन्तु इस महान् चारित्ररूप धन का पाना अति दुर्लभ है, मैं इन तुच्छ विषयों के लिए कैसे इस अमूल्य धन का परित्याग करूं ?

(१९) मनोरमा ने जब सुना कि मेरे पति को राजा ने मारने का आदेश दे दिया है, उस समय उसके करुण विलाप का बड़ा ही मर्म-भेदी वर्णन नयनन्दि ने किया है।

(२०) सुदर्शन के ऊपर चाण्डाल-द्वारा किया गया असि-प्रहार जब हार रूप से परिणत हो गया, तब यह बात सुनकर राजा ने क्रोधित हो अनेकों सुभटों को सुदर्शन के मारने के लिए भेजा। धर्म के रक्षक एक देव ने उन सबको कील दिया। जब राजा को यह पता चला तो वह क्रुद्ध हो बड़ी सेना लेकर स्वयं सुदर्शन को मारने के लिए चला। तब देव ने भी बहुत बड़ी सेना अपनी विक्रिया से बनाई। दोनों सेनाओं में और देव तथा राजा में घमासान युद्ध हुआ। इसका बहुत विस्तृत एवं लोम-हर्षक वर्णन नयनन्दि ने किया है। सकलकीर्ति ने भी उक्त सभी स्थलों पर नयनन्दि का अनुसरण करते हुए वर्णन किया है। किन्तु यतः सुदर्शनोदय एक काव्य रूप से रचित ग्रन्थ है। अतः इसमें घटनाओं का विस्तृत वर्णन नहीं दिया गया है।

(२१) सुदर्शन के मुनि बन जाने पर व्यन्तरी के द्वारा जो घोर उपसर्ग सात दिन तक किया गया उसका रोम-हर्षक वर्णन करते हुए नयनन्दि लिखते हैं कि उसके घोर उपसर्ग से एक बार तीनों लोक क्षोभित हो गये, पर सुदर्शन का एक रोम भी नहीं हिला। धन्य है ऐसी दृढ़ता को। प्रस्तुत ग्रन्थकारने उस व्यन्तरी के उपसर्ग में मात्र इतना ही लिखा है कि उस उपसर्ग के चिन्तवन करने मात्र से हृदय में कम्पन होने लगता है। पर यह नहीं बताया कि यह उपसर्ग कितने दिन तक होता रहा।

(२२) सुदर्शन मुनिराज को केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ। अवधिज्ञान से सुदर्शन मुनिराज के केवल ज्ञान उत्पन्न होने की बात जान कर उसने सब देवी-देवताओं को साथ लेकर और ऐरावत हाथी पर बैठकर मध्य लोक को प्रस्थान किया। उस समय ऐरावत हाथी के एक लाख योजन विस्तार की और उसके शत मुख दन्तों पर सरोवर, कमल और उन पर अप्सराओं आदि के नृत्य का ठीक वैसा ही वर्णन किया है—जैसा कि तीर्थंकरों के जन्माभिषेक को आते समय जिनसेनादि अन्य आचार्यों ने किया है। उक्त विस्तृत लक्ष योजन वाले ऐरावत हाथी पर आते हुए जब इन्द्र भरत क्षेत्र के समीप पहुँचा, तो उसने यह देख कर कि यह क्षेत्र तो बहुत छोटा है—अपने ऐरावत हाथी के विस्तार को संकुचित कर लिया नयनन्दि ने लिखा है—

जंबूदीवह जेत्तिओ तित्थहू तत्तिओ किउ संवरि करिंदे।
तत्थुवलग्गवि आए सग्गे अमराए वुच्चइ एम सुरिंदो ॥

(ब्यावर प्रति पत्र ८५)

ऐरावत हाथी के शरीर-संवरण की बात दिगम्बर ग्रन्थों में नयनन्दि के द्वारा लिखी हुई प्रथम वार ही देखने में आई है, हालांकि यह स्वाभाविक बात है, अन्यथा लाख योजन का हाथी जरा से भरत

में कैसे आ सकता है ? श्वेताम्बर-सम्मत जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में ऐसा स्पष्ट उल्लेख है कि जब इन्द्र स्वर्ग से चलता है, तब हाथी का विस्तार लाख योजन का ही होता है। पर आते हुए जब नन्दीश्वर द्वीप से इधर जम्बूद्वीप की ओर पहुँचता है तब उसके संकेत से हाथी के शरीर का विस्तार संकुचित हो जाता है।

(२३) नयनन्दि और सकलकीर्त्ति दोनों ने ही हरिषेण के समान सुदर्शनकेवली धर्मोपदेश और विहार का वर्णन किया है।

(२४) दोनों ने हरिषेण के समान गन्धकुटी में जाकर देवदत्ता वेश्या आदि के व्रत ग्रहण की चर्चा की है।

(२५) नयनन्दि और सकलकीर्ति ने सुदर्शन का निर्वाण पौष सुदी पंचमी सोमवार के दिन बतलाया है।

नयनन्दि के पश्चात् सुदर्शन का आख्यान ब्रह्म नेमिदत्त विरचित आराधना कथा कोश में पाया जाता है। पर इसमें कथानक अति संक्षेप से दिया है। इसमे न कपिलाके छल-प्रपंच का उल्लेख है, न देवदत्ता वेश्या और व्यन्तरी के ही उपसर्ग का उल्लेख है। केवल एक ही बात उल्लेखनीय है कि गुवाला ने शाम को वन से घर जाते हुए एक साधु को खुले मैदान में शिला पर अवस्थित देखा। घर पर रात में वह विचारता रहा कि इतनी तेज ठंड में वे साधु कैसे रहे होंगे ? पिछली रात मे वह भैंसे लेकर चराने को निकला और देखता है कि वे साधु तथैव ध्यानस्थ विराजमान है तब उनके शरीर पर पड़े हुए तुषार (बर्फ) को उसने अपने हाथों से दूर किया, उनके पाद-मर्दनादि किये और महान् पुण्य का संचय किया। यथा —

तथा पश्चिमरात्रौ च गृहीत्वा महिषी पुनः ।
तत्रागत्य समालोक्य तं मुनिं ध्यानसंस्थितम् ॥
तच्छरीरे महाशीतं तुषारं पतित द्रुतम् ।

स्फेटयित्वा स्वहस्तेन मुने: पादादिमर्दनम् ॥

कृत्वा स्वास्थ्यं निधायोच्चैः पुण्यभागी बभूव च ॥७८॥

(आराधना तथा कोश पृ. १०६)

उपरि वर्णित तीनों कथानकों को सामने रखकर जब हम सुदर्शनोदय में वर्णित कथानक पर दृष्टिपात करते हैं, तो ज्ञात होता है कि उपर्युक्त कथानकों का सार बहुत सुन्दर रूप से इसमें दिया हुआ है और यत: यह काव्य रूप से रचा गया है, अत: काव्यगत समस्त विशेषताओं से यह भर-पूर है। इस प्रकार समुच्चय रूप से वर्णित सुदर्शन के चरित के विषय में आ० नयनन्दि का यह कथन पूर्ण रूप से सत्य सिद्ध होता है कि रामायण में राम सीता के वियोग से शोकाकुल दिखाई देते हैं, महाभारत में पाण्डव और कौरवों की कलह एवं मारकाट दिखाई देती है, तथा अन्य लौकिक शास्त्रों में जार, चोर, भील आदि का वर्णन मिलता है। किन्तु इस सुदर्शन सेठ के चरित में ऐसा एक भी दोष दिखाई नहीं देता, अर्थात यह सर्वथा निर्दोष चरित है। यथा—

रामो सीय वियोय-सोय-विहुरं सपत्तु रामायणे,
जादा पडव धायरट्ठ सददं गोतं कली भारहे।
डेड्डाकोलिय चोररज्जुणिरदा आहासिदा सुद्दये
णो एक्कंपि सुदंसणस्स चरिदे दोसं समुब्भासिदं ॥

(ब्यावर भवन प्रति, पत्र ११ B)

वास्तव में आ० नयनन्दि का यह कथन पूर्ण रूप से सत्य है कि सुदर्शन के चरित में कहीं कोई दोष या महापुरुष की मर्यादा का अतिक्रम नहीं दिखाई देता, प्रत्युत सुदर्शन का उत्तरोत्तर अभ्युदय ही दृष्टिगोचर होता है।

सुदर्शनोदय का अन्तरङ्ग दर्शन

ऊपर सुदर्शन सेठ के चरित का सामान्य दर्शन पाठकों को कराया गया है। अब प्रस्तुत सुदर्शनोदय के भीतर वर्णित कुछ विशेषताओं का दिग्दर्शन कराया जाता है—

(१) इसके निर्माता ने सुदर्शन की भील के भव से लेकर उत्तरोत्तर उन्नति दिखाते हुए सर्वोत्कृष्ट अभ्युदय रूप निर्वाण की प्राप्ति तक का वर्णन कर इसके 'सुदर्शनोदय' नाम को सार्थक किया है।

(२) इसमे द्वीप, क्षेत्र, नगर, ग्राम, हाट, उद्यान, पुरुष, स्त्री, शिशु, कुमार, गृहस्थ और मुनि का वर्णन पूर्ण आलङ्कारिक काव्य शैली मे किया गया है।

(३) इसकी रचना में संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वियोगिनी, वसन्ततिलका, द्रुतविलाम्बित और शार्दूलविक्रीडित छन्दों का तो उपयोग किया ही है, साथ ही देशी भाषा के प्रसिद्ध प्रभाती, काफी, होली, सारंग, रसिक, श्यामकल्याण, सोरठ, छदचाल और कव्वाली आदि के रागों में भी अनेक सुन्दर गीतों की रचना की है जिसे पढ़ने पर पाठक का हृदय आनन्द से आन्दोलित हुए बिना नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त देशी राग-रागनियों मे गाये जाने वाले भी अनेक गीतों की रचना इसमें दृष्टि-गोचर होती है। जिनकी सूची परिशिष्ट में दी गई है।

(४) सुदर्शन के गर्भ मे आने पर उनकी माता ने जो पांच स्वप्न देखे, उनका और मुनिराज के द्वारा उनके फल का वर्णन बहुत सुन्दर किया गया है।

(५) सुदर्शन के जन्म और बाल्यकाल की क्रीड़ाओं का वर्णन बहुत स्वाभाविक हुआ है, उसे पढ़ते समय ऐसा भान होने लगता है, मानो बालक सुदर्शन सामने ही खेल रहा है।

(६) सुदर्शन को लक्ष्य करके जो प्रभाती, जिन दर्शन, जिन-पूजन आदि का वर्णन इसमें किया गया है, वह अत्यन्त भावना-पूर्ण एवं प्रत्येक गृहस्थ को अनुकरणीय है।

(७) कपिला ब्राह्मणी और अभया रानी की कामोन्मत्त चेष्टाओं का वर्णन अनूठा है और देवदत्ता वेश्या के द्वारा जो प्राणायाम, अनेकान्त और सिद्धशिला का चित्र खींचा गया है, वह तो कवि की कल्पनाओं की पराकाष्ठा का ही द्योतक है।

(८) उक्त तीनों ही स्थलों पर सुदर्शन के उत्तर, उनकी चातुरी, ब्रह्मचर्य-दृढ़ता और परम संवेग-शीलता के परिचायक हैं। यहां उन्हें देकर हम प्रस्तावना का कलेवर नहीं बढ़ाना चाहते। पाठक मूल ग्रंथ को पढ़ते हुए स्वयं ही उन्हें हृदयङ्गम करेंगे।

(९) ऋषभदास सेठ के पूछने पर मुनिराज के द्वारा धर्म के स्वरूप का वर्णन, सुदर्शन के पूछने पर गृहस्थ धर्म का निरूपण, स्त्री-कृत उपसर्गों की दशा में सुदर्शन का शरीर-गत विरूपता का चिन्तवन, घर जाते हुए मोहिनी माया का दर्शन, सुदर्शन मुनिराज के रूप में मुनि धर्म के आदर्श का वर्णन और वेश्या को लक्ष्य करके किया गया श्रावक धर्म का उपदेश मननीय एवं ग्रन्थ-निर्माता के अगाध धार्मिक परिज्ञान का परिचायक है।

(१०) नवें सर्ग के ४८ वें श्लोक में द्विदल अन्न को कच्चे दूध, दही और छाछ के साथ खाने का निषेध किया गया है। इसकी विशद व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—"वर्तमान के कुछ जैन महानुभाव कहते हैं कि कच्चे दूध और कच्चे दूध से जमे दही के साथ द्विदल अन्न नहीं खाना चाहिए। गरम दूध से जमे हुये दही को पुनः गरम करने की क्या जरूरत है ? और ऐसे लोग अपने कथन की पुष्टि में पं० आशाधर के सागार धर्मामृत के पांचवें अध्याय

का 'आमगोरससंप्रक्त द्विदलं' इत्यादि २८ वां श्लोक प्रस्तुत करते हैं। पर इस श्लोक में आये हुये 'आम' शब्द का अर्थ है अनग्नि-पक्व, तथा गोरस का अर्थ है दूध और दही। आम विशेषण है और गोरस विशेष्य है। 'आमौ च तौ गोरसौ दुग्ध-दधिनी ताभ्यां संप्रक्तं द्विदलं'। इसका अर्थ होता है—कच्चे दूध से या कच्चे दही से मिला हुआ द्विदल। किन्तु 'कच्चे दूध के दही से,' ऐसा अर्थ कहां से लिया जा सकता है। स्वयं पं० आशाधरजी ने भी अपनी टीका में यही अर्थ किया है। देखो—

नाहरेन्न भक्षयेद् दयापरः। किं तत्? द्विदलं मुद्र-माषादि धान्यम। कि विशिष्ट? आमेत्यादि-आमेनानग्निपक्वेन गोरसेण दध्ना अकथितक्षीरादिसम्भूतेन, तक्रेण च संप्रक्त" इत्यादि।

अर्थात् विना गरम किये हुये गोरस यानी दूध और दही के साथ, तथा विना गरम किये हुए दूध वगैरह की बनी छाछ के साथ मिला हुआ, ऐसा द्विदल अन्न। अब यदि 'अकथितक्षीरादिसम्भूतेत' इस विशेषण को इसके पूर्व के दधि शब्द का मान लिया जाय, तो फिर इसमें जो 'आदि' शब्द हैं, वह व्यर्थ रहता है। अतएव वह विशेषण तो आगे वाले तक्र शब्द का है। जिस दूध में से, या दही में से लोनी (मक्खन) निकाल लिया जाता है उसे तक्र या छाछ कहते है।

किञ्च—कितने ही पूर्वाचार्यों ने तो हर हालत में ही क्या दही और दूध दोनों के ही साथ द्विदल खाने का निषेध किया है। देखो –

"वेदल मिलियउ देहि महिउ भुत्त ण सावय होय।
सइंय दंसण भंगु पर समत्तउ मइलेइ॥ ३६॥"

(योगीन्द्र देव कृत श्रावकाचार)

इसी प्रकार श्री श्रुतसागर सूरि ने भी चारित्र पाहुड की टीका में लिखा है—

"द्विदलान्न मिश्रं दधि तक्रं खादितं सम्यक्त्वमपि मलिनयेदिति" ॥

पृष्ठ ४३)

उक्त दोनों ही उद्धरणों में यह बतलाया गया है कि कच्चे और पक्के दोनों ही तरह के गोरस के साथ द्विदल अन्न खाने वाला अपने सम्यक्त्व को भी मलिन कर देता है। फिर व्रतीपना तो रहेगा ही कहां से।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह भली भांति ज्ञात हो जाता है कि पक्के दूध के जमाये हुये कच्चे दही—छांछ के साथ द्विदल अन्न के खाने को किसी भी जैनाचार्य ने भोज्य नहीं बतलाया है।

(११) इसी नवें सर्ग के ६३ वें श्लोक में सचित्त त्याग प्रतिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि संयमी पुरुष पत्र और फल जाति की किसी भी अनग्निपक्व वनस्पति को नहीं खाता है। यहा पर ग्रन्थकारने अनग्निपक्व' पद देकर उन लोगों की ओर एक गहरा संकेत किया है—जो कि मूल वृक्ष से पृथक् हुए पत्र, पुष्प, फल आदि को सचित्त नहीं मानते हैं। यह ठीक है कि तोड़े गये पत्र फलादिक में मूल वृक्ष जाति का जीव नहीं रहता, पर बीज आदि के रूप में सप्रतिष्ठित होने के कारण वह सचित ही बना रहता है। गन्ना को उसके मूल भाग से काट लेने पर भी उसके पर्व (पोर की गांठ, अनन्त निगोद के आश्रित है। फिर उसे कैसे अचित्त माना जा सकता है। गन्ने का यन्त्र-पीलित रस ही अचित्त होता है और तभी वह सचित्त त्यागी को ग्राह्य है। अमरूद आदि फलों के भीतर रहने वाले बीज भी सप्रतिष्ठित हैं, अत: वृक्ष से अलग किया हुआ अमरूद भी सचित्त ही है। यही बात शेष पत्र-पुष्प और फलादिक के विषय में जानना चाहिए।

(१२) इसी नवें सर्ग के श्लोक ६५ में सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने 'समस्तमप्युज्झतु सम्व्यवाय' वाक्य के द्वारा स्त्री मात्र का ही त्याग नहीं कराया है, प्रत्युत अनंग क्रीड़ा, हस्तमैथुन, आदि सभी प्रकार के अनैतिक मैथुन सेवन को भी सर्वथा त्याज्य प्रतिपादन किया है। साधारण बारह व्रतों के पालन करने वाले के लिए अनंगक्रीड़ा आदि अतीचार हैं, पर प्रतिमाधारी के लिए तो वह अनाचार ही हैं।

(१३) इसी सर्ग के ७०-७१ वें श्लोक में धर्म रूप वृक्ष का बहुत सुन्दर रूपक बतलाया गया है, जिसका आनन्द पाठक उसे पढ़ने पर ही ले सकेंगे।

सुदर्शनोदय पर प्रभाव

प्रस्तुत सुदर्शनोदय के कथानक पर जहां अपने पूर्ववर्ती कथा ग्रन्थों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, वहां धार्मिक प्रकरणों पर सागारधर्मामृत और क्षत्रचूड़ामणि का प्रभाव परिलक्षित होता है। यथा –

'मा हिंस्यात्सर्वभूतानीत्यार्षं धर्मं प्रमाणयन्।
सागसोऽप्यङ्गिनो रक्षेच्छक्त्या किन्नु निरागसः॥

(सुदर्श० सर्ग ४, श्लो ४१)

न हिंस्यात्सर्वभूतानीत्यार्षं धर्मं प्रमाणयन्।
सागसोऽपि सदा रक्षेच्छक्त्या किन्नु निरागसः॥

(सागार० अ० २, श्लो० ८१)

पत्रशाकं च वर्षासु नाऽऽहर्तव्यं दयावता॥

(सुदर्श० स० ६, श्लो० ५६)

वर्षास्वदलितं चात्र पत्रशाकं च नाहरेत्॥

(सागारधर्मा० अ० ५ श्लो० १८)

मदीयं मांसलं देहं दृष्ट्वेयं मोहमागता ।
दुरन्तदुरितेनाहो चेतनास्याः समावृता ॥

(सुदर्श० स० ७. श्लो० २२)

मदीयं मांसलं मांसममीमांसैयमङ्गना ।
पश्यन्ती पारवश्यान्धा ततो मान्यात्मनेऽधवा ॥

(क्षत्रचूडामणि, लम्ब ७. श्लो० ४०)

इस तीसरी तुलना के प्रकरण को देखते हुए यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि सुदर्शनोदयकार पर क्षत्रचूड़ामणि के उक्त प्रकरण का प्रभाव है ।

एक विचारणीय बात

सुदर्शनोदय में वर्णित प्रसंगों को गहराई से देखने पर एक स्थल ऐसा दिखाई देता है, जो कि विद्वानों के लिए विचारणीय है । नवें सर्ग में देवदत्ता वेश्या के द्वारा सुदर्शन मुनिराज को पड़िगाह कर और मकान के भीतर ले जाकर उनसे अपना अभिप्राय प्रकट करने का वर्णन आया है । उस वेश्या के वचनों को सुनकर और आये हुए संकट को देखकर उसे दूर करने के लिए सुदर्शन मुनिराज के द्वारा वेश्या को सम्बोधित करते हुए संसार, शरीर और विषय-भोगों की असारता अशुचिता और अस्थिरता का उपदेश दिलाया गया है । साधारण दशा में यह उपदेश उपयुक्त था । किन्तु गोचरी को निकले हुए साधु तो गोचरी सम्पन्न हुए बिना बोलते नहीं हैं, मौन से रहते हैं, फिर यहां पर ग्रन्थकारने कैसे सुदर्शन के द्वारा उपदेश दिलाया ? आ० हरिषेण, नयनन्दि आदि ने भी साधु की गोचरी-सम्बन्धी मौन रखने की परिपाटी का पालन किया है और आये हुए उपसर्ग को देखकर सुदर्शन के मौन रखने का ही वर्णन किया है । यह आशंका प्रत्येक विद्वान् पाठक को उत्पन्न होगी । जहां तक मैं समझ रा हूँ,

सुदर्शनोदयकार ने पूर्व परम्परा के छोड़ने की दृष्टि से ऐसा वर्णन नहीं किया है, गोचरी को जाते हुए साधु की मर्यादा से वे स्वयं भली भांति परिचित हैं। फिर भी उनके ऐसा वर्णन करने का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि वेश्या के द्वारा अपना अभिप्राय प्रकट करते ही सुदर्शन मुनिराज अपने साथ किये छल को समझ गये और उन्होंने गोचरी करने का परित्याग कर उसे सम्बोधन करना उचित समझा, जिससे कि यह संसार, देह और भोगों की असलियत को समझ कर उनसे विरक्त हो जाय। पर सुदर्शन मुनिराज के इस उपदेश का उस पर कोई असर नहीं हुआ और उसने उन्हें अपनी शय्या पर हठात् पटक लिया और लगातार तीन दिन तक उसने अपने सभी अमोघ कामास्त्रों का उन पर प्रयोग किया। पर मेरु के समान अचल सुदर्शन पर जब उसके सभी प्रयोग असफल रहे, तब अन्त में वह अपनी असफलता को स्वीकार कर उनका गुण-गान करती हुई प्रशंसा करती है, उनके चरणों में गिरती है, अपने दुष्कृत्या के लिए निन्दा करती हुई क्षमा-याचना करती है और उपदेश देने के लिए प्रार्थना करती है। सुदर्शन मुनिराज उसकी यथार्थता को देखकर उसे पुनः उपदेश देते हैं और अन्त में उन्हे सफलता मिलती है। फलस्वरूप वह वेश्या और वह पंडिता दासी दोनों घर-बार छोड़कर और अपने पापों का प्रायश्चित्त करके आर्यिका बन जाती हैं। इस प्रकार सुदर्शनोदयकार का यह उक्त वर्णन पूर्व परम्परा का परिहार न कह कर उन पतितों के उद्धार का ही कार्य कहा जाना चाहिए। ग्रन्थकार को सुदर्शन मुनिराज के द्वारा उपदेश दिलाने का यही समुचित अवसर प्रतीत हुआ, क्योंकि उनके अन्तःकृत्केवली होने की दृष्टि से उन्हें उनके द्वारा आगे उपदेश देने का और कोई अवसर दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था।

:: विषय सूची ::

परिशिष्ट



ग्रन्थकार का संक्षिप्त परिचय :

आपका जन्म राजस्थान जयपुर के समीपवर्ती राणोली ग्रामवासी सेठ चतुर्भुजजी के यहां वि० सं० १९४८ में हुआ। स्याद्वादमहाविद्यालय काशी में शिक्षण प्राप्त किया। घर आने के बाद स्वतन्त्र व्यवसाय करते हुए पठन-पाठन करते रहे। विवाह नहीं किया। वि० सं० २००४ में ब्रह्मचर्य प्रतिमा ग्रहण की। वि० सं० २०१२ में क्षुल्लक दीक्षा ली। वि० सं० २०१५ में आपने आचार्य शिवसागरजी महाराज से खानियां (जयपुर) में मुनि दीक्षा ग्रहण की। तब से आप बराबर निर्दोष मुनिव्रत का पालन करते हुए निरन्तर शास्त्रों के अध्ययन मनन और चिन्तन में लगे रहते हैं। हम आपकी दीर्घायु की कामना करते हैं।

—सम्पादक



ग्रन्थ रचयिता . . .



परम पूज्य मुनि श्री १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज



सुदर्शनोदयः

वीरप्रभुः स्वीयसुबुद्धिनावा भवाब्धितीरं गमितप्रजावान् ।
सुधीवराराध्यगुणान्वया वाग्यस्यास्ति नः शास्ति कवित्वगावा ॥

जिस वीरप्रभुकी गुणशालिनी वाणीकी आराधना-उपासना सुधीवर—उत्तम बुद्धिवाले उच्चकुलीन विद्वज्जनोंने और मन्दबुद्धि वाले मृगसेन धीवर जैसे नीच कुलीन लोगोने की है, तथा जिस वाणीकी हम सरीखे अल्प-ज्ञानियोके ऊपर भी कवित्वशक्ति प्राप्त करनेके रूपमे कृपा हो रही है, ऐसे श्रीवीरप्रभु अपनी सुबुद्धिरूप नावके द्वारा ससारके समस्त प्राणियोको भवसागरसे पार उतारने वाले होवें ॥१॥

वागुत्तमा कर्मकलङ्कजेतुर्दुरन्तदुःखाम्बुनिधौ तु सेतुः ।
ममास्त्वमुष्मिंस्तरणाय हेतुरदृष्टपारे कविताभरे तु ॥२॥

कर्म-कलङ्कको जीतनेवाले श्रीजिन भगवान्‌की जो दिव्य वाणी इस दुरन्त दुःखोंसे भरे भव-सागरमें सेतु (पुल) के समान है, वही भगवद्-वाणी इस अपार काव्य-सागरसे पार उतरनेके लिए मुझे भी सहायक हो ॥२॥

भवान्धुसम्पातिजनैकबन्धुर्गुरुश्चिदानन्दसमाधिसिन्धुः ।
गतिर्ममैतत्स्मरणैकहस्तावलम्बिनः काव्यपथे प्रशस्ता ॥३॥

जो गुरुदेव भव-कूपमें पडे जनोंके उद्धार करनेके लिए एक मात्र बन्धु हैं और चिदानन्द-समाधिके सिन्धु हैं, उनके गुण-स्मरणका ही एकमात्र जिसके हस्तावलम्बन है, ऐसे मेरे इस काव्य-पथमे उनके प्रसादसे प्रशस्त गति हो ॥३॥

सुदर्शनाख्यान्तिमकामदेव-कथा पथायातरथा मुदे वः ।
भो भो जना वीरविभोर्गुणौघानसोऽनुकूलं स्मरतामभोघा ॥४॥

हे पाठको, सुदर्शन नामके अन्तिम कामदेवकी कथा आप लोगोके लिए रोचक एव प्रमोद-वर्धक है, उसका व्याख्यान आचार्य-परम्परासे अविच्छिन्न चला आ रहा है और जो अनन्त गुणोके निधान श्रीवीर भगवान्का स्मरण करनेवाले आप लोगो के लिए बहुत ही अनुकूल है, जिसका सुनना आप लोगोके जीवन को सफल बनानेवाला है। (यहा पर मैं उसीका वर्णन करूगा, सो एकाग्र होकर सुनें।) ॥४॥

पुराणशास्त्रं बहु दृष्टवन्तः नव्यं च भव्यं भवतात्तदन्तः ।
इदं स्विदङ्के द्रुतमभ्युदेति यदादरी तच्छिशुको मुदेति ॥५॥

हे महानुभावो, आप लोगोने पुराणों और शास्त्रोको बहुत बार देखा है, जिनकी कि रचना अपूर्व, मनोरजक एव प्रशसनीय है। उन्हींमें प्रसग-वश सुदर्शन सेठका वृत्तान्त आया हुआ है।

उन्हींके आधारपर यह प्रबन्ध लिखनेके लिए उनके रचयिता आचार्योंका अनुयायी यह बालक भी सादर उद्यत हो रहा है ॥५॥

अस्मिन्निदानीमजडेऽपि काले रुचिः शुचिः स्यात्खलु सत्तमाऽऽलेः ।
जडाशयादेवमदङ्कपङ्काज्जाते सुवृत्तेऽपि न जातु शङ्का ॥६॥

ज्ञान-विज्ञान से उन्नत इस वर्तमान कालमे मुझ जैसे अज्ञ पुरुष के द्वारा वर्णन किये जानेवाले इस चरितके पठन-श्रवणमें उत्तम पुरुषोंकी अच्छी रुचि होगी, या नही, ऐसी शङ्का तो मेरे मनमे है ही नही; क्योंकि प्रचण्ड ग्रीष्म कालमे यदि किसी सरोवरमे कोई कमल दृष्टि-गोचर हो, तो उस पर तो भ्रमर और भी अधिक स्नेह दिखलाया करता है ॥६॥

विचारसारे भुवनेऽपि साऽलङ्कारामुदारां कवितां मुदाऽलम् ।
निषेवमाणे मयि यस्तु पण्डः स केवलं स्यात् परिफुल्लगण्डः ॥

विचारशील मनुष्योके विद्यमान होनेसे सार-युक्त इस लोक मे अलकार-(आभूषण-)युक्त नायिकाके समान विविध प्रकारके अलकारोसे युक्त इस उदार कविताको भली भाति सहर्ष सेवन करनेवाले मुझपर केवल वही पुरुष अपने गाल फुलावेगा – चिढ़ कर निन्दा करेगा – जो कि षण्ढ (नपु सक-पक्षमें कविता करने के पुरुषार्थसे हीन) होगा। अन्य लोग तो मेरे पुरुषार्थकी प्रशसा ही करेंगे ॥७॥

अनेकधान्यार्थकृतप्रचारा समुल्लसन्मानसवत्युदारा ।
सतां ततिः स्याच्छरदुक्तरीतिः सा मेघसंघातविनाशिनीति ॥८॥

सत्पुरुषोंकी सन्तति शरद्-ऋतुके समान सुहावनी होती है। जैसे शरद्-ऋतु अनेक प्रकारके धान्योंको उत्पन्न करती है और मार्गों का कीचड़ सुखाकर गमनागमनका सचार प्रारम्भ करने वाली होती है, उसी प्रकार सन्त जनोंकी सन्तति अनेक प्रकारो से अन्य लोगोंका उपकार करनेके लिए तत्पर रहती है। जैसे शरद्-ऋतुमे मानसरोवर आदि जलाशयोंका जल निर्मल लहरोसे उल्लासमान रहता है, उसी प्रकार सज्जनोंकी सन्ततिका मनो-मन्दिर भी सदा ही उल्लास-युक्त रहता है। जैसे शरद्-ऋतु उदार एवं मेघ-समूहका विनाश करनेवाली होती है, उसी प्रकार सत्पुरुषोंकी सन्तति भी उदार एव लोगोके पापोंका विनाश करने वाली होती है ॥८॥

कृपाङ्कुराः सन्तु सतां यथैव खलस्य लेशोऽपि मुदे सदैव ।
यच्छीलनादेव निरस्तदोषा पयस्विनी स्यात्सुकवेश्च गौः सा ॥९॥

सुकविकी वाणीरूप गायको जीवित रहनेके लिए जिस प्रकार सत्पुरुषोंकी दयारूप दूर्वा (हरी घास) आवश्यक होती है, उसी प्रकार उसे प्रसन्न रखनेके लिए दूर्वाके साथ खल (दुष्ट पुरुष और तिलकी खली) का समागम आवश्यक है, क्योंकि खलके अनुशीलनसे जैसे गाय निर्दोष (स्वस्थ) रहकर अधिक दुधारू हो जाती है, उसी प्रकार दुष्ट पुरुषके द्वारा दोष दिखानेसे कविकी वाणी भी निर्दोष और आनन्द-वर्धक हो जाती है ॥९॥

कवेर्भवेदेव तमोधुनाना सुधाधुनी गौर्विधुवद्विधाना ।
विरज्यतेऽतोऽपि किलैकलोकः स कोकवत्किन्त्वितरस्त्वशोकः ॥१०

जैसे चन्द्रमाकी किरणें अन्धकारको मिटाने वाली और अमृतको बरसाने वाली होती है, उसी प्रकार सुकविकी वाणी भी अज्ञानको हटाकर मनको प्रसन्न करने वाली होती है। फिर भी चकवा पक्षीके समान कुछ लोग उससे अप्रसन्न ही रहते हैं और शेष सब लोग प्रसन्न रहते हैं, सो यह भले-बुरे लोगोंका अपना-अपना स्वभाव है ॥१०॥

द्वीपस्य यस्य प्रथितं न्यगायं जम्बूपदं बुद्धिमदुत्सवाय ।
द्वीपेषु सर्वेष्वधिपायमानः सोऽयं सुमेरुं मुकुटं दधानः ॥११॥

जिसका नाम ही बुद्धिमानोके लिए आनन्दका देने वाला है, जो सब द्वीपोका अधिपति बनकर सबके मध्यमें स्थित है और जो सुमेरुका मुकुटको अपने शिर पर धारण किये हुए है, ऐसा यह प्रसिद्ध जम्बूद्वीप है ॥११॥

सुदिन्दिरामङ्गलदीपकल्पः समस्ति सम्स्तिष्कवतां सुजल्पः ।
अनादिसिद्धः सुतरामनल्प लसच्चतुर्वर्गनिसर्गतल्पः ॥१२॥

यह जम्बूद्वीप अनादिकालसे स्वतः सिद्ध बना हुआ है, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्वर्गरूप पुरुषार्थका स्वाभाविक समुत्पत्तिस्थान है, विचारशील जनोके द्वारा जिसके सदा ही गुण गाये जाते है, ऐसा यह जम्बूद्वीप पुण्यरूप लक्ष्मीका मङ्गल-दीप सदृश प्रतीत होता है ॥१२॥

तदेकभागो भरताभिधानः समीक्षणाद्यस्य तु विद्विधानः ।
भालं भवेन्नीरधिचीरवत्या भुवोऽद् उच्चैःस्तनशैलतत्याः ॥१३॥

इस जम्बूद्वीपमे भरत नामका एक भाग (क्षेत्र) है, जिसके देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह नीरधि (लवरणसमुद्र) रूप वस्त्रको धारण करने वाली और पर्वतरूप उच्च स्तनवाली पृथ्वी देवीका सुन्दर भाल (ललाट) ही है ॥१३॥

स्फुरायमाणं तिलकोपमेयं किलार्यखण्डोत्तमनामधेयम् ।
गङ्गापगासिन्धुनदान्तरत्र पवित्रमेकं प्रतिभाति तत्र ॥१४॥

उस भरत क्षेत्रमे भी तिलकके समान शोभायमान होने वाला, आर्यावर्त इस उत्तम नामको धारण करनेवाला यह आर्य-खण्ड है, जो कि गगा और सिन्धु नामकी महानदियोके अन्त-रालमे अवस्थित है और आर्य जनोके निवासके कारण जो पवित्र प्रदेश माना गया है ॥१४॥

तदेकदेशः शुचिसन्निवेशः श्रीमान् सुधीमानत्रसंश्रये सः ।
अङ्गाभिधानः समयः समस्ति यस्यामकौ पुण्यमयी प्रशस्तिः ॥

उस आर्यखण्डमे अग नामका एक देश है, जिसका सन्निवेश (वसावट) बहुत सुन्दर है और जहा पर श्रीमान् एव बुद्धिमान् लोग निवास करते है उस अगदेशकी पुण्यमयी प्रशस्ति इस प्रकार है ॥१५॥

सग्रन्थितां निष्फलमुच्छ्रितत्वं वैरस्य मावं दधदग्रतस्त्वम् ।
इक्षो सदीचोऽस्यसतः सतेति महीभृता पीलनमेवमेति ॥१६॥

हे इक्षुवृन्द ! तुम लोग भी तो दुर्जनोके सहाध्यायी ही हो ! क्योकि जिस प्रकार दुर्जन लोग मायाचारकी गांठको

हृदयके भीतर धारण करते हैं, उसी प्रकार तुम लोग भी अपने भीतर गड़ेरीकी गांठोंको धारण करते हो। दुर्जन लोग बिना प्रयोजन ही अपने शिर को ऊंचा किये रहते हैं और तुम लोग भी अपने ऊपर फूल-जैसा निष्फल तुर्रा धारण किये हुये हो। दुर्जन लोग सबके साथ वैरभाव धारण करते है और तुम लोग भी अपने ऊपरी अग्रभागमे उत्तरोत्तर नीरसभावको धारण करते हो। बस, ऐसा मानकर ही मानों भूमिधर किसान लोग उस देशमे ईखको पेलते ही रहते हैं। भावार्थ – उस देशमे ईख अधिकतामे पेली जाती थी, जिससे कि लोगोंको गुड़, खाण्ड, शक्कर की प्राप्ति सुलभ थी ॥१६॥

समुच्छलच्छाखतयाऽथ वीनां कलध्वनीना भृशमध्वनीनान् ।
फलप्रदानाय समाह्वयन्तः श्रीपादपाः कल्पतरूञ्जयन्तः ॥१७॥

उस देशमे वृक्ष उछलती हुई अपनी लम्बी-लम्बी शाखा रूप भुजाओंके द्वारा इशारा करके, तथा अपने ऊपर बैठे हुए पक्षियों की मीठी बोलीके बहानेसे अपने फलोको प्रदान करनेके लिए पथिक जनोंको वार-वार बुलाते हुए कल्पवृक्षोंको भी जीतते रहते है। भावार्थ – उस देशमें फलशाली वृक्षोंकी अधिकता थी ॥१७॥

अङ्गीकृता अप्यमुना शुभेन पर्यन्तसम्पत्तरुणोत्तमेन ।
श्रयन्ति वृद्धाम्बुधिमेव गत्वा ता निम्नगा एव जडाशयत्वात् ॥१८

उस देशकी निम्नगा (नदिया) वस्तुतः निम्नगा हैं अर्थात् नीचेकी ओर बहनेवाली हैं। यद्यपि उन नदियोंके दोनों तटोंपर

उद्-गम स्थानसे लेकर समुद्रमें मिलने तक बराबर सघन उन्नत एवं उच्च वृक्ष खड़े हैं, तथापि जडाशय (मूर्ख-हृदय) होनेसे वे वृद्ध समुद्रके पास जाकर ही उसका आश्रय लेती है ॥१८॥

भावार्थ–सस्कृत साहित्यमे 'ड' और 'ल' में भेद नही माना जाता। इस श्लोकमे कविने यह भाव व्यक्त किया है कि कोई नवयुवती स्वयवर मडपमें अनेक नवयुवकोके लगातार आदिसे अन्त तक बैठे होने पर भी उन सबको छोड़कर यदि वह सबसे अन्तमे बैठे हुए बूढ़े मनुष्य को वरण करे तो उसे जड़ाशय अर्थात् महामूर्ख ही कहा जायगा। इसी प्रकार उस देशकी जलसे भरी हुई नदियोके दोनो किनारों पर एकसे बढ़कर एक उत्तम वृक्ष खड़े है, फिर भी वे नीचेको बहती हुई खारे और बूढे समुद्रसे जाकर ही मिलती हैं। इसलिए उनका निम्नगा अर्थात् नीचके पास जानेवाली यह नाम सार्थक ही है। इस व्यंग्यसे कविने यह भाव व्यक्त किया है कि उस अगदेशमें जलसे भरी हुई नदियां सदा बहती रहती थी।

पदे पदे पावनपल्लवानि सदाम्रजम्बूज्ज्वलजम्भलानि ।
सन्तो विलच्या हि भवन्ति ताभ्यः सत्र-प्रपास्थापनभावनाभ्यः ॥१९

उस देशमें स्थान स्थान पर पवित्र जलसे भरे हुए सरोवर थे और आम, जामुन, नारंगी आदिके उत्तम फलोंसे लदे हुए वृक्ष थे। इसलिए उस देशके धनिक वर्गकी सदाव्रतशाला खोलने और प्याऊ लगवानेकी भावनाए पूरी नहीं हो पाती थी। क्योंकि

सर्वसाधारण लोगोंको पद-पद पर सरोवरोंसे पीनेको पानी और वृक्षोंसे खानेको मिष्ट फल सहजमें ही प्राप्त हो जाते थे ॥१६॥

ग्रामान् पवित्राप्सरसोऽप्यनेक-कल्पांघ्रिपान्यत्र सतां विवेकः।
शस्यात्मसम्पत्समवायिनस्तान् स्वर्गप्रदेशान्मनुते स्म शस्तान् ॥२०

उस देशके ग्राम भी सज्जनोंको स्वर्ग-सरीखे प्रतीत होते थे। जैसे स्वर्गमें उत्तम अप्सराएं रहती हैं, वैसे ही उन गांवोंमें निर्मल जलके भरे हुए सरोवर थे। जैसे स्वर्गमें नाना जातिके कल्पवृक्ष होते हैं, उसी प्रकार उन गांवोंमे भी अनेक जातिके उत्तम वृक्ष थे। जैसे स्वर्गमें नाना प्रकार की प्रशंसनीय सम्पदा होती है, उसी प्रकार उन गांवोमें भी नाना जातिके धान्योंसे सम्पन्न खेत थे। इस प्रकार वे गांव स्वर्ग जैसे ही ज्ञात होते थे ॥२०॥

पञ्चाङ्गरूपा खलु यत्र निष्ठा सा गोचराधारतयोपविष्टा।
भवानिनो वत्सलताभिलाषी स्पृशेद्यथेत्थं बहुधान्यराशिम् ॥२१॥

उस अंगदेशके गांव पञ्चाङ्गसे प्रतीत होते थे। जैसे ज्योतिषियोंका पञ्चाङ्ग तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करण इन पांच बातोंसे युक्त होता है, उसी प्रकार उस देशके ग्रामवासी लोग सादा भोजन, सादा पहिनावा, पशु-पालन, कृषि-करण और सादा रहन-सहन इन पांच बातोंको सदा व्यवहारमें लाते थे। उन ग्रामोंमें चारों ओर गोचर-भूमि थी, जो कि पञ्चाङ्गके ग्रह-गोचरका स्मरण कराती थी। वहांके गांवोंके प्रधान पुरुष गायोंके बछड़ोंसे बड़ा स्नेह रखते थे, क्योंकि उनके द्वारा उत्पन्न की हुई अपार धान्य राशि उन्हें प्राप्त होती थी ॥२१॥

उद्योतयन्तोऽपि परार्थमन्तर्घोषा बहुव्रीहिमया लसन्तः ।
यतित्वमञ्चन्त्यविकल्पभावान्नृपा इवामी महिषीश्वरा वा ॥२२॥

उस देशमे जो गुवालोकी बसतियां है, उसमें बसनेवाले गुवाले लोग अपने अन्तरङ्गमे परोपकारकी भावना लिए रहते थे, जैसे कि बहुव्रीहि समास अपने मुख्य अर्थको छोड़कर दूसरे ही अर्थको प्रकट करता है, एव उन गुवालोके पास अनेक प्रकारके धान्योंका विशाल सग्रह था । तथा उस देशके गुवाले अविकल्पभावसे यतिपनेको धारण करते थे । साधु संकल्प-विकल्प भावोसे रहित होता है और वे गुवाले अवि अर्थात् भेड़ोंके समूह-वाले थे । तथा वे गुवाले राजाओके समान महिषीश्वर थे । राजा तो महिषो (पट्टरानी) का स्वामी होता है और वे गुवाले महिषो अर्थात् भैसोके स्वामी थे । भावार्थ – उस देशके हर गांवमें गुवाले रहते थे, जिससे कि सारे देशमें दूध-दही और घी की कही कोई कमी नही थी ॥२२॥

अनीतिमत्यत्र जनः सुनीतिस्तया भयाढ्यो न कुतोऽपि भीतिः ।
विसर्गमात्मश्रिय ईहमानः स साधुसंसर्गविधानिधानः ॥२३॥

कवि विरोधालङ्कार-पूर्वक उस देशका वर्णन करते हैं – अनीतिवाले उस देशमे सभी जन सुनीतिवाले थे और भयाढ्य होते हुए भी उन्हे किसीसे भी भय नही था । विसर्गको ही अर्थात् खोटे धंधेको ही अपनी लक्ष्मी बढ़ानेवाला समझते थे, फिर भी वे अच्छे धंधोके करनेवालों मे प्रधान थे । ये सभी बाते परस्पर विरुद्ध है, अत· विरोधका परिहार इस प्रकार

करना चाहिए कि ईति (दुर्भिक्ष आदि)से रहित उस देशमें सभी सुन्दर नीतिका आचरण करते थे और भा अर्थात् कान्तिसे युक्त होते हुए भी वे किसीसे भयभीत नही थे। वे अपनी चंचल लक्ष्मी का विसर्ग अर्थात् त्याग या दान करना ही उसका सच्चा उपयोग मानते थे और सदा साधु जनोंके ससर्ग करनेमें अग्रणी रहते थे ॥२३॥

भुवस्तु तस्मिंल्लपनोपमाने समुन्नतं नक्रमिवानुजाने ।
चम्पापुरी नाम जनाश्रयं तं श्रियो निधाने सुतरां लसन्तम् ॥२४॥

इस प्रकार सर्व सुख-साधनोंसे सम्पन्न वह अङ्गदेश इस पृथ्वीरूपी स्त्रीके मुखके समान प्रतीत होता था और जिस प्रकार मुख पर नाकका एक समुन्नत स्थान होता है, उसी प्रकार उस अङ्गदेशमे चम्पापुरी नामकी नगरीका सर्व प्रकारसे उन्नत होने के कारण उच्च स्थान था। भावार्थ – लक्ष्मीके निधानभूत उस अङ्गदेशमें चम्पापुरी नगरी थी, जहां पर उत्तम जनोंका निवास था ॥२४॥

शालेन बद्धं च विशालमिष्ट-खलक्षणं सत्परिखोपविष्टम् ।
बभौ पुरं पूर्वमपूर्वमेतद्विचित्रभावेन विलोक्यतेऽतः ॥२५॥

आकाशको स्पर्श करनेवाले विशाल शाल (कोट) से वह चम्पापुर नगर चारों ओरसे वेष्टित था और उसको सर्व ओरसे घेरकर जलसे भरी गहरी उत्तम खाई भी अवस्थित थी। इस प्रकार वह पुरी उस समय अपूर्व रूपको धारण करके शोभाको

प्राप्त थी और इसीलिए वह लोगोंके द्वारा आश्चर्ययुक्त विचित्र भावसे देखी जाती थी ॥२५॥

यस्मिन् पुमांसः सुरसार्थलीलाः सुरीतियुक्ता ललनाः सुशीलाः ।
पुरं बृहत्सौधसमूहमान्यं तत्स्वर्गतो नान्यदियाद्वदान्यः ॥२६॥

उस नगरमें पुरुष सुर-सार्थ अर्थात् देव-समूहके समान लीला-विलास करनेवाले थे, अथवा सुरस अर्थ (धन-सम्पत्ति) का भलीभांति उपभोग करनेवाले थे। वहां की ललनाएं देवियों के समान सुशील और सुन्दर मिष्ट-भाषिणी थीं। वहांके विशाल प्रासाद सौधसमूहसे मान्य थे। स्वर्गके भवन तो सुधा (अमृत) से परिपूर्ण होते है और इस नगरके भवन सुधा (चूना) से बने हुए थे। इस प्रकार विवेकी लोग उस नगरको सम्पूर्ण सादृश्य होनेके कारण स्वर्गसे भिन्न और कुछ नही मानते थे – अर्थात् उसे स्वर्ग ही समझते थे ॥२६॥

सुरालयं तावदतीत्य दूरात्पुराद् द्विजिह्वाधिपतेश्च शूराः ।
समेत्य सत्सौधसमूहयुक्ते सन्तो वसन्तोऽकुटिलत्वयुक्ते ॥२७॥

सुरालयको तथा द्विजिह्वो (सर्पोंके) के अधिपति शेषनाग के निवास नागलोकको भी दूरसे ही छोड़कर शूरवीर पुण्याधि-कारी महापुरुष उत्तम सौध-समूहसे युक्त उस कुटिलता-रहित सरल चम्पापुरमे आकर वसते थे ॥२७॥

भावार्थ – इस श्लोकमें पठित 'सुरालय' द्विजिह्व और सौधपद द्वयर्थक हैं। जिस प्रकार बुद्धिमान् सज्जन पुरुष सुरा

(मदिरा) के आलय (भवन) को छोड़कर सुधा (अमृत) मय स्थानमें जाना पसन्द करते हैं, उसी प्रकार पुण्याधिकारी देव लोग भी अपने सुर+आलय स्वर्ग को छोड़ कर उस नगरमें जन्म लेते थे। इसी प्रकार जैसे सन्त पुरुष कुटिल स्थानको छोड़कर सरल स्थानका आश्रय लेते हैं ठीक इसी प्रकारसे नाग-कुमार जातिके देव भी अपने कुटिल नागलोक को छोड़कर उस नगरमे जन्म लेते थे। कविके कहनेका भाव यह है कि वहां देवलोक या नागलोक से आनेवाले जीव ही जन्म लेते थे, नरक या तिर्यच गतिसे आनेवाले नहीं; क्योंकि इन दोनों गतियोंसे आनेवाले जोव क्रूर और कुटिल परिणामी होते हैं।

मुक्तामया एव जनाश्च चन्द्र-कान्ताः स्त्रियस्ताः सकला नरेन्द्रः।
शिरस्सु वज्रं द्विषतामिहालं पुरं च रत्नाकरवद्विशालम् ॥२८॥

उस नगरके निवासी जन मुक्तामय थे, स्त्रिया सर्व कलाओं से सम्पन्न चन्द्रकान्ततुल्य थी और राजा शत्रुओंके शिरोंपर वज्र-पात करनेके कारण हीरकमणिके समान था। इस प्रकार वह चम्पापुर एक विशाल रत्नाकर (रत्नोंके भण्डार समुद्र) के समान प्रतीत होता था ॥२८॥

भावार्थ – जैसे समुद्रमें मोतियों, चन्द्रकान्त मणियों और हीरा, पन्ना आदि जवाहरातोंका भण्डार होता है, उसी प्रकार नगरके निवासी मुक्त-आमय थे अर्थात् नीरोग शरीरवाले थे और मोतियोंकी मालाओंको भी धारण करते थे। स्त्रियोंके शरीर चन्द्रमाकी कान्तिको धारण करनेके कारण चन्द्रकान्त

मणिसे प्रतीत होते थे और राजा शत्रुओंके शिरोंपर वज्र-प्रहार करनेसे हीरा जैसा था। इस प्रकार सर्व उपमाओंसे सादृश्य होनेके कारण उस नगरको रत्नाकरकी उपमा दी गई है।

पराभिजिद् भूपतिरित्यनन्तानुरूपमेतन्नगरं समन्तात्।
लोकोऽखिलः सत्कृतिकः पुनस्ताः स्त्रियः समस्ता नवपुष्यशस्ताः॥

वह नगर सर्व ओरसे ज्योतिर्लोक सा प्रतीत होता था। क्योंकि जैसे ज्योतिर्लोकमे अभिजत् नक्षत्र होता है, उसी प्रकार उस नगरका राजा पर-अभिजित् अर्थात् शत्रुओंको जीतनेवाला था। आकाशमे जैसे कृत्तिका नक्षत्र होता है, उसी प्रकार उस नगरके निवासी सभी लोग सत्-कृतिक थे, अर्थात् उत्तम कार्योंके करनेवाले थे। और जैसे ज्योतिर्लोकमे पुष्य नक्षत्र होता है, वैसे ही उस नगरमें रहनेवाली समस्त स्त्रिया 'न वपुषि अशस्ताः' थी अर्थात् शरीरमे भद्दी या असुन्दर नही थीं, प्रत्युत सुन्दर और पुष्ट शरीरको धारण करनेवाली थीं। इस प्रकार वह सारा नगर ज्योतिर्लोक सा ही दिखाई देता था ॥२९॥

बलेः पुरं वेद्मि सदैव सर्पैरधोगतं व्याप्ततया सदर्पैः।
पुरं शचीशस्य भृतं नभोगैः स्वतोऽपरं पूर्णमिदं सुयोगैः॥३०॥

वह चम्पापुर तीनों लोकोंमें श्रेष्ठ था, क्योंकि बलिराजा का नगर पाताल लोक तो सदा ही दर्पयुक्त विषधर सर्पोंसे व्याप्त होनेके कारण अधम है; निकृष्ट है। और शची इन्द्राणीके स्वामी इन्द्रका पुर स्वर्गलोक 'नभोगैः भृत' अर्थात् नभ

(आकाश) में गमन करनेवाले देवोंसे भरा हुआ है। दूसरा अर्थ यह कि वह 'भोगैः न भृत' अर्थात् सुखके साधन भोग-उपभोगों से भरा हुआ नही है, (क्योंकि देव लोग आहार, निद्रा आदिसे रहित होते हैं, अतः वहा खाने-पीने और सोने आदिकी सामग्री का अभाव है और वह आकाशमे अधर अवस्थित है, अतः किसी कामका नहीं है। किन्तु चम्पानगर भूमि पर अवस्थित एवं भोग-उपभोगकी सामग्रीसे सम्पन्न होनेके कारण सर्व योगोंसे परिपूर्ण है, अतः सर्व-श्रेष्ठ है ॥३०॥

जिनालयाः पर्वततुल्यगाथाः समग्रभूसम्भवदेणनाथाः ।
शृङ्गाग्रसंलग्नपयोदखण्डाः श्रीरोदसीदर्शितमानदण्डाः ॥३१॥

उस नगरमे जिनालय पर्वतके समान प्रतीत होते थे। जैसे पर्वत उन्नत एव विशाल होते हैं, वैसे ही वहांके जिनालय भी अति उत्तुग एवं विस्तृत थे। जैसे पर्वतोंपर मृगराज विराजते हैं, वैसे ही उन जिनालयोंके शिखरोपर चारों ओर सिंहोंकी मूर्त्तियां बनी हुई थी। और जैसे पर्वतोंके शृङ्गोंके अग्रभागसे मेघ-पटल सलग्न रहता है, उसी प्रकार इन जिनालयोके शिखरोंके अति ऊँचे होनेसे उनसे भी मेघ-पटल स्पर्श करता रहता था। इस प्रकार वहाके जिनालय अपनी ऊँचाईके कारण पृथ्वी और आकाशको नापने वाले मानदण्डसे प्रतीत होते थे ॥३१॥

वणिक्पथः श्रीवरसन्निवेशः स विश्वतो लोचननामदेशः ।
यस्मिञ्जनः संस्क्रियतां च तूर्णं योऽभूदनेकार्थतया प्रपूर्णः ॥३२॥

उस चम्पानगरका वणिक्पथ (बाजार) विश्वलोचन कोषसा प्रतीत होता था। जैसे यह कोष श्रीधर-आचार्य-रचित है, उसी प्रकार वहांका बाजार सर्व प्रकारको श्री सम्पत्तिसे सन्निविष्ट अर्थात् सजा हुआ था। जैसे कोषका नाम विश्वलोचन हैं, वैसेही वहाका बाजार ससार भरके लोगोंके नेत्रों द्वारा देखा जाता था अर्थात् संसार-भरके लोग क्रय-विक्रय करनेके लिए वहां आते थे। जैसे विश्वलोचन कोष शब्दज्ञानसे मनुष्यको शीघ्र संस्कृत अर्थात् व्युत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार वहांका बाजार भी खरीदने योग्य वस्तुओसे खरीददारको शीघ्र सम्पन्न कर देता था। जैसे यह कोष एक-एक शब्दके अनेक-अनेक अर्थोंसे परिपूर्ण है, वैसेही वहांका बाजार एक-एक जातिके अनेक द्रव्योसे भरा हुआ था। तथा जैसे इस कोषमे अनेक अध्याय, वर्ग आदि हैं, उसी प्रकार उस नगरके बाजारोंके भी अनेक विभाग थे और वहांके राजमार्ग भो लम्बे चौडे और अनेक थे ॥३२॥

पलाशिता किंशुक एव यत्र द्विरेफवर्गे मधुपत्वमत्र ।
विरोधिता पञ्जर एव भातु निरोष्ठ्यकाव्येष्वपवादिता तु ॥३३॥

उस नगरमें 'पलाश' इस शब्दका व्यवहार केवल किंशुक (ढाक) के वृक्षमें ही था और कोई मनुष्य पल अर्थात् मांसका खानेवाला नही था। मधुप शब्दका व्यवहार केवल द्विरेफ वर्ग अर्थात् भ्रमर-समुदायमें ही होता था और कोई मनुष्य वहां मधु और मद्यका पान करनेवाला नही था। वि-रोध-पना वहां पिंजरोंमें ही था, क्योकि उनमें ही वि अर्थात् पक्षी अवरुद्ध रहते

थे और वहाके किसी मनुष्यमें परस्पर विरोधभाव नही था। अपवादिता वहां निरोष्ठ्य काव्योंमे ही थी, अर्थात् जो विशिष्ट काव्य होते थे, उनमेही ओष्ठसे बोले जानेवाले प, फ आदि शब्दोका अभाव पाया जाता था, अन्यत्र कही भी अपवाद अर्थात् लोगोंकी निन्दा-बुराई आदि दृष्टिगोचर नही होते थे ।।३३।।

कौटिल्यमेतत्खलु चापवल्लयां छिद्रानुसारित्वमिदं मुरल्याम् ।
काठिन्यमेवं कुचयोर्युवत्याः कण्ठे ठकत्वं न पुनर्जगत्याम् ।।३४

उस नगरमे कुटिलता केवल धनुर्लतामे ही देखी जाती थी, अन्य किसी भी मनुष्यमे कुटिलता दृष्टिगोचर नही होती थी। छिद्रानुसारिता केवल मुरली (बासुरी) मे ही देखी जाती थी, क्योकि मुरलीके छेदका आश्रय लेकर गायक लोग अनेक प्रकारके राग आलापते थे, अन्यत्र कही भी छिद्रानुसारिता नही थी, अर्थात् कोई मनुष्य किसी अन्य मनुष्यके छिद्र (दोष) अन्वेषण नही करता था। कठोरपना केवल युवती स्त्रियोके स्तनोंमे ही पाया जाता था, अन्यत्र कहीं भी लोगोमे कठोरता नही पाई जाती थी। कण्ठमे ही ठकपना पाया जाता था, अर्थात् 'क'कार और 'ठ'कार इन दो शब्दोसे बने हुए कण्ठमे ठकपना था, अन्य किसी भी मनुष्यमे ठकपना अर्थात् वचकपना नही था। भावार्थ-वहांके सभी मनुष्य सीधे, सरल, कोमल और निश्छल थे ।।३४।।

श्रीवासुपूज्यस्य शिवाप्तिमत्त्वात् पुरीयमासीद्बहुपुण्यसत्त्वा ।
सुगन्धयुक्तापि सुवर्णमूर्त्तिरिति प्रवादस्य किल प्रपूर्तिः ।।३५।।

यद्यपि यह नगरी पहिलेसे ही बहुत पुण्यशालिनी थी, तथापि बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूज्यस्वामीके शिवपद-प्राप्ति करनेसे और भी अधिक पूज्य हो गई। इस प्रकार इस पुरीने 'सुगन्धयुक्त सोना' वाली लोकोक्तिकी पूर्ति कर दी थी ॥३५॥

व्याप्नोति वप्रशिखरैर्गगनं पुरं यत्
पातालमूलमनुखातिकया स्म सम्यक् ।
आरामधामघनतो धरणीं समस्तां
लोकत्रयीतिलकतां प्रतियात्यतस्ताम् ॥३६॥

यह नगर अपने परकोटेके शिखरोंसे तो आकाशको व्याप्त कर रहा था, अपनी खाईकी गहराईसे पाताललोकके तल भागको स्पर्श कर रहा था और अपने उद्यान एवं घन-सम्पन्न भवनोंसे समस्त पृथिवीको आक्रान्त कर रहा था। इस प्रकार वह पुर तीनों लोकोंका तिलक बन रहा था। (इससे अधिक उसकी और क्या महिमा कही जाय) ॥३६॥

अधरमिन्द्रपुरं विवरं पुनर्भवति नागपतेर्नगरं तु नः ।
भुवि वरं पुरमेतदियं मतिः प्रचिता खलु यत्र सतां ततिः ॥३७॥

इन्द्रका नगर स्वर्ग तो अधर है, निराधार आकाशमें अवस्थित है, अतः बेकार है और नागपति शेषनागका नगर पातालमें विवर रूप है, बिल (छिद्र) रूपसे बसा है, अतएव वह भी किसी गिनतीमें आनेके योग्य नहीं है। किन्तु यह चम्पानगर पृथ्वीपर सर्वाङ्गरूपसे सुन्दर बसा हुआ है और यहां पर

सज्जनोंका समुदाय निवास करता है, अतः यह स्वर्ग और पाताल लोकसे श्रेष्ठ नगर है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥३७॥

धात्रीवाहननामा राजाऽभूदिह नास्य समोऽवनिभाजाम् ।
तेजस्वीदृक् यथांऽशुमाली निजप्रजायाः यः प्रतिपाली ॥३८॥

इस नगरमें एक धात्रीवाहन नामका राजा हुआ, जिसकी समता करनेवाला इस भूमण्डल पर दूसरा कोई अन्य राजा नहीं था। वह सूर्यके समान तेजस्वी था और अपनी प्रजाका न्याय-नीति-पूर्वक प्रतिपालन करता था ॥३८॥

यतिरिवासकौ समरसङ्गतः सुधारसहितः स्वर्गिवन्मतः ।
पृथुदानवारिरिन्द्रसमान एवं नानामहिमविधानः ॥३९॥

वह राजा यतिके समान 'समरसङ्गत' था। जैसे साधु समतारसको प्राप्त होते हैं, वैसेही वह राजा भी समर (युद्ध) सङ्गत था, अर्थात् युद्ध करनेमें अति कुशल था। स्वर्गमें रहने-वाले देवोके समान वह राजा 'सुधा-रस-हित था। जैसे देव सदा सुधा (अमृत) रसके ही पान करनेके इच्छुक रहते हैं, वैसे ही यह राजा भी सुधार-सहित था, अर्थात् अपनी प्रजाकी बुराइयों को दूर कर उन्हें सुखी बनाने वाला था। इन्द्र जैसे पृथुदानवारि है, पृथु (महा) दानवोंका अरि है, उनका विनाशक है, उसी प्रकार यह राजा भी 'पृथु-दान-वारि' था, अर्थात् अपनी प्रजाको निरन्तर सर्व प्रकारके महान् दानोंकी वर्षाके जलसे तृप्त करता रहता था। इस प्रकार वह धात्रीवाहन राजा नाना प्रकारकी महिमाका धारण करनेवाला था ॥३९॥

अभयमतीत्यभिधाऽभूद्भार्या यया‍ऽभिविदितो नरपो नार्या ।
अपराजितयेवेन्दुशेखरः स्मरस्येव यत्कटाक्षः शरः ॥४०॥

उस धात्रीवाहन राजाके अभयमती नामकी रानी थी, जिसने नारी-सुलभ अपने विशिष्ट गुणोंसे राजाको अपने वशमें कर रखा था, जैसे कि पार्वतीने महादेव को । उस रानीके कटाक्ष कामदेवके बाणके समान तीक्ष्ण थे ॥४०॥

रतिरिव रूपवती या जाता जगन्मोहिनीव काममाता ।
चन्द्रकलेव च नित्यनूतनाऽऽनन्दवती नृपशुचः पूतना ॥४१॥

वह रानी रतिके समान अत्यन्त रूपवती थी और कामदेव की माता लक्ष्मीके समान जगत्को मोहित करनेवाली थी । चन्द्रमाकी नित्य बढ़नेवाली कलाके समान वह लोगोंको नित्य नवीन आह्लाद उत्पन्न करती थी और राजाके शोक-सन्ताप को नष्ट करनेके लिए पूतना राक्षसी-सी थी ॥४१॥

चापलतेव च सुवंशजाता गुणयुक्ताऽपि वक्रिमख्याता ।
सायकसमवायेन परेषां हृदि प्रवेशोचिता विशेषात् ॥४२॥

वह रानी ठीक धनुष-लताका अनुकरण करती थी । जैसे धनुर्लता उत्तम वंश (बांस) से निर्मित होती है, उसी प्रकार यह रानी भी उच्च क्षत्रिय वंशमें उत्पन्न हुई थी । जैसे धनुष गुण अर्थात् डोरीसे संयुक्त रहता है, उसी प्रकार यह रानी भी सौन्दर्य आदि गुणोंसे संयुक्त थी । जैसे धनुर्लता वक्रता (तिरछापन) को धारण

करती है, उसी प्रकार यह रानी भी मनमे कुटिलता को धारण करती थी। जैसे धनुर्लता अपने द्वारा फेंके गये बाणोंसे दूसरे लोगोंके हृदयमें प्रवेश कर जाती है, उसी प्रकार यह रानी भी अपने कृत्रिम हाव-भावरूप बाणोंसे दूसरे लोगोंके हृदयमें प्रवेश कर जाती थी, अर्थात् उन्हें अपने वशमें कर लेती थी ॥४२॥

निम्नगेव सरसत्वमुपेता तडिदिव चपलतोपहितचेता ।
दीपशिखेव द्युतिमत्यासीद्राज्ञे झष-चातक-शलभाशीः ॥४३॥

वह रानी निम्नगा (नीचेकी ओर बहनेवाली नदी) के समान सरसतासे सयुक्त थी, बिजलीके समान चपलतासे युक्त चित्तवाली थी, और दीपशिखाके समान कान्तिवाली थी। उसे देखकर राजा की चेष्टा मीन, चातक और शलभके समान हो जाती थी ॥४३॥

भावार्थ – जैसे मछली बहते हुए जलमे कल्लोल करती हुई आनन्दित होती है, चातक पक्षी चमकती बिजली को देखकर पानी बरसने के आसारसे हर्षित होता है और शलभ (पतगा) दीप-शिखाको देखकर प्रमोदको प्राप्त होता है, उसी प्रकार धात्रीवाहन राजा भी अपनी अभयमती रानीकी सरसताको देख-कर मीनके समान, बिजली-सी चपलता को देखकर चातकके समान और शारीरिक-कान्तिको देखकर पतगाके समान अत्यन्त आनन्दको प्राप्त होता था।

निशाशशाङ्क इवायमिहाऽऽसीत् परिकलितः किल यशसां राशिः ।
यतः समुद्रोद्धारकारकस्तामसवृत्तिकयाऽभिसारकः ॥४४॥

जिस प्रकार अपने उदयसे समुद्रको उद्वेलित करनेवाला प्रकाश-युक्त चन्द्रमा अन्धकारमयी रात्रिमे भी सम्बन्ध रखता है और उसके साथ अभिसार करता है, उसी प्रकार सुवर्णादिकी मुद्राओं (सिक्कों) का उद्धार करनेवाला – सिक्कोंका चलानेवाला और यशका भाण्डार भी यह धात्रीवाहन राजा अपनी भोगमयी तामसी प्रवृत्तिके द्वारा रानी अभयमतीके साथ निरन्तर अभि-सरण करता रहता था ।।४४।।

सार्धसहस्रद्वयात्तु हायनानामिहाग्रतः ।
बभूवायं महाराजो महावीरप्रभोः क्षणे ।।४५।।

चम्पापुरीका वह धात्रीवाहन नामका महाराज आजसे अढ़ाई हजार वर्षोंके पहिले भगवान् महवीर स्वामीके समयमें हुआ है ।।४५।।

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
तेन प्रोक्तसुदर्शनोदय इह व्यत्येति संख्यापको
देशादेर्नृपतेश्च वर्णनपरः सर्गोऽयमाद्योऽनकः

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरी देवीसे उत्पन्न हुए, वाणीभूषण, बालब्रह्मचारी प० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर विरचित इस सुदर्शनोदयकाव्यमें अंगदेश और उसके राजाका वर्णन करनेवाला यह प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ।

अथ द्वितीयः सर्गः

अथोत्तमो वैश्यकुलावतंसः सदेकसंसत्सरसीसुहंसः ।
तस्मिन्निवासी समभून्मुदा स श्रीश्रेष्ठिवर्यो वृषभस्य दासः ॥१॥

उसी समय उस चम्पापुरमें वैश्यकुलका आभूषण, सज्जनों की सभारूप सरोवरीका अद्वितीय हंस और सदा प्रसन्न रहनेवाला श्रेष्ठिवर्य श्रीवृषभदास नामका एक सेठ रहता था ॥१॥

द्विजिह्वतातीतगुणोऽप्यहीनः किलानकोऽप्येष पुनः प्रवीणः ।
विचारवानप्यविरुद्धवृत्तिर्मदोज्झितो दानमयप्रवृत्तिः ॥२॥

वह सेठ द्विजिह्वतातीत गुणवाला हो करके भी अहीन था । अर्थात् दो जिह्वावाले सर्पोंका स्वामी शेषनाग अपरिमित गुणका धारक होकरके भी अन्तमें अहीन ही है, सर्प ही है । परन्तु यह सेठ द्विजिह्वता अर्थात् चुगलखोरीके दुर्गुणसे रहित एवं उत्तम सद्-गुणोंका धारक होनेसे अहीन अर्थात् हीनतासे रहित था, उत्तम था । वह सेठ आनक होते हुए भी अति प्रवीण था । अर्थात् आनक नाम नगाड़ेका है, जो नगाड़ा हो, वह उत्तम वीणा कैसे हो सकता है ? इस विरोधका परिहार यह है कि वह सेठ आनक अर्थात् पापोंसे रहित था और अति चतुर था । तथा वह विचारवान् होते हुए भी अविरुद्ध वृत्ति था । 'वि' नाम

पक्षीका है, जो पक्षियोंके प्रचारसे युक्त हो, वह पक्षियोंसे रहित आजीविकावाला कैसे हो सकता है। इस विरोधका परिहार यह है कि वह सेठ अति विचारशील था और जाति-कुलसे अविरुद्ध न्याययुक्त आजीविका करनेवाला था। वह सेठ मदोज्झित होकर के भी दानमय प्रवृत्तिवाला था। जो हाथी मदसे रहित होता है, वह दान अर्थात् मदकी वर्षा नहीं कर सकता। मद-युक्त गजके ही गण्डस्थलोंसे मद झरता है, मद-हीन गजोंसे नहीं। पर यह सेठ सर्व प्रकारके मदोंसे रहित हो करके भी निरन्तर दान देने की प्रवृत्तिवाला था ॥२॥

बभौ समुद्रोऽप्यजडाशयश्च दोषातिगः किन्तु कलाधरश्च।
दृशो न वैषम्यमगात्कुतोऽपि स पाशुपत्यं महदाश्रितोऽपि ॥३॥

वह सेठ समुद्र होकरके भी अजलाशय था। जो समुद्र हो और जलका भरा न हो, यह विरोध है। इसका परिहार यह है कि वह समुद्र अर्थात् स्वर्णादिककी मुद्राओं (सिक्कों) से सयुक्त होते हुए भी जडाशय (मूर्ख) नहीं था, प्रत्युत अत्यन्त बुद्धिमान् था। वह दोषातिग होते हुए भी कलाधर था। कलाधर नाम चन्द्रमाका है, वह दोषा अर्थात् रात्रिका अतिक्रमण नहीं कर सकता, अर्थात् उसे रात्रिमें उदित होना ही पड़ता है। पर यह सेठ सर्व प्रकारके दोषोंसे रहित हो करके भी कलाधर था, अर्थात् चातुर्य, आदि अनेक कलाओंका धारक था। और वह सेठ महान् पाशुपत्यको आश्रित होकरके भी किसी भी प्रकारसे दृष्टि की विषमताको नहीं प्राप्त था। भावार्थ — पशुपति नाम महादेव

का है, पर वे विषम दृष्टि हैं, क्योंकि उनके तीन नेत्र हैं। पर यह सेठ सहस्रों गाय-भैंस आदि पशुओंका स्वामी हो करके भी विषम दृष्टि नहीं था, किसीको बुरी दृष्टिसे नहीं देखता था, किन्तु सबको समान दृष्टिसे देखता था ॥३॥

मतिर्जिनस्येव पवित्ररूपा बभूव नाभिभ्रमणान्धुकूपा ।
सधर्मिणी तस्य वणिग्वरस्य कामोऽपि नामास्तु यदिङ्गवश्यः ॥४॥

उस वैश्यनायक सेठ वृषभदासकी सेठानीका नाम जिनमति था, तो वह जिनभगवान्‌की मतिके समान ही पवित्र रूप वाली थी, दोष-रहित थी। जिनभगवान्‌की मति संसार-परिभ्रमणरूप अघकूपका अभाव करती है और सेठानीकी नाभि दक्षिणावर्त भ्रमणको लिए हुए कूपके समान गहरी थी। जैसे जिनमतके अभ्याससे काम-वासना मिट जाती है, वैसे ही सेठानीकी चेष्टासे कामदेव उसके वशमें हो रहा था ॥४॥

लतेव मृद्वी मृदुपल्लवा वा कादम्बिनी पीनपयोधरा वा ।
समेखलाभ्युन्नतिमन्नितम्बा तटी स्मरोत्तानगिरेरियं वा ॥५॥

वह सेठानी लताके समान कोमलाङ्गी मृदुल पल्लववाली थी। जैसे लता स्वय कोमल होती है, और उसके पल्लव (पत्र) और भी कोमल होते हैं, वैसे ही सेठानीका सारा शरीर ही कोमल था, पर उसके हस्त वा चरण तल तो और भी अधिक कोमल थे। वह कादम्बिनी (मेघमाला) के समान पीनपयोधरा थी। जैसे मेघमाला जलसे भरे हुए बादलोसे युक्त होती है, उसी

प्रकार वह सेठानी विशाल पुष्ट पयोधरों (स्तनों) को धारण करती थी। और वह सेठानी कामरूप उत्तान पर्वतकी मेखला-युक्त उपत्यका सी प्रतीत होती थी। जैसे पर्वतक उपत्यका कहीं समस्थल और कहीं विषमस्थल होती है, वैसे ही यह सेठानी भी मेखला अर्थात् करधनीसे युक्त थी और उदरभागमे समस्थल तथा नितम्ब भागमें उन्नत स्थलवाली थी ॥५॥

कापीव वापी सरसा सुवृत्ता मुद्रेव शाटीव गुणैकसत्ता।
विधोः कला वा तिथिसत्कृतीद्धाऽलङ्कारपूर्णा कवितेव सिद्धा ॥६॥

वह सेठानी जलसे भरी हुई वापीके समान सरल थी; मुद्रिकाके समान सुवृत्त थी, जैसे अगूठी सुवृत्ता अर्थात् गोल होती है, उसी प्रकार वह सुवृत्ता अर्थात् उत्तम आचरण करनेवाली थी। साड़ीके समान एक मात्र गुणोंसे गुम्फित थी, जैसे साड़ी गुण अर्थात् सूतके धागोंसे बुनी होती है, उसी प्रकार वह सेठानी पातिव्रत्यादि अनेक गुणोसे संयुक्त थी। चन्द्रमाकी कलाके समान तिथिसत्कृतीद्धा थी। जैसे चन्द्रकी बढ़ती हुई कलाएँ प्रतिदिन तिथियोंको प्रकट करती है, वैसे ही वह सेठानी प्रतिदिन अतिथियोंका आदर-सत्कारमें तत्पर रहती थी। और वह सेठानी अलङ्कार-परिपूर्ण उत्तम कविताके समान प्रसिद्ध थी। जैसे उत्तम कविता उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारोंसे परिपूर्ण होती है, वैसे ही यह सेठानी भी गले, कान, हाथ आदिमे नाना प्रकार के आभूषणोंको धारण करती थी ॥६॥

पवित्ररूपामृतपूर्णकुल्या वाहां सदा हारिमृणालतुल्याम् ।
शेवालवच्छ्लक्ष्णकचोपचारश्रीमन्मुखाम्भोजवती बभार ॥७॥

यह सेठानी पवित्र सौन्दर्यरूप अमृतसे भरी हुई नदी-सी प्रतीत होती थी। उसके शरीरकी भुजा तो कमल-नालके समान लम्बी और सुकोमल थी, शिरके केश शेवाल (काई) के समान चिकने और कोमल थे और उन केशोंके समीप उसका मुख खिले हुए कमल सी शोभाको धारण करता था ॥७॥

दीर्घोऽहिनीलः किल केशपाशः दृशोः श्रुतिप्रान्तगतो विलासः ।
यस्या मुखे कौसुमसंविकास-संकाश आसीदपि मन्दहासः ॥८॥

उस सेठानीका केशपाश काले सांपके समान लम्बा और काला था। उसके नेत्र कानोंके समीप तक विस्तृत थे और उसके मुख पर विकसित सुमनोंके समान सदा मन्द हास्य बना रहता था ॥८॥

मालेव या शीलसुगन्धयुक्ता शालेव सम्यक् सुकृतस्य सूक्ता ।
श्रीश्रेष्ठिनो मानसराजहंसीव शुद्धभावा खलु वाचि वंशी ॥९॥

वह सेठानी मालाके समान शीलरूप सुगन्धिसे युक्त थी, शालाके समान उत्तम सुकृत (पुण्य) का भाण्डार थी। श्री वृषभदास सेठके मानस रूप मानसरोवरमें निवास करनेवाली राजहंसीके समान शुद्ध भावोंकी धारक थी और वंशीके समान मधुर भाषिणी थी ॥९॥

कुशेशयाभ्यस्तकराया शयाना या नाम पात्री सुकृतोदयानाम् ।
स्वप्नावलीं पुंप्रवरप्रसूत्व-प्रासादसोपानततिं मृदुत्वक् ॥१०॥
अनल्पतूलोदिततल्पतीरे क्षीरोदपूरोदरचुम्बिचीरे ।
लक्ष्मीरिवासौ तु निशावमाने ददर्श हर्षप्रतिपद्विधाने ॥११॥

कमलसे भी अतिकोमल हस्तवाली और अपूर्व भाग्योदयकी पात्री उस सेठानीने एक दिन क्षीरसागरके समान स्वच्छ श्वेत चादरसे आच्छादित एवं रूईदार कोमल गद्दासे संयुक्त शय्या पर लक्ष्मीके समान सोते हुए रात्रिके अवसान-कालमे श्रेष्ठ पुरुषकी उत्पत्तिकी सूचक, पुण्य प्रासाद पर चढ़नेके लिए सोपान-परम्परा के समान, हर्षको बढ़ानेवाली प्रतिपदा तिथिका अनुकरण करती हुई स्वप्नावलीको देखा ॥१०-११॥

अथ प्रभाते कृतमङ्गला सा हृदेकदेवाय लसत्सुवासाः ।
रदांशुपुष्पाञ्जलिमर्पयन्ती जगौ गिरा वल्लकिकां जयन्ती ॥१२॥

इसके पश्चात् प्रभात समय जाग कर और सर्व मांगलिक कार्योंको करके तथा सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर वह सेठानी अपने स्वामी ऋषभदास सेठके पास गई। वहां जाकर अपने हृदयके एकमात्र देव पतिके लिए दान्तोंकी किरणरूप पुष्पाञ्जलिको अर्पण करती हुई और अपनी मीठी वाणीसे वीणाको जीतती हुई इस प्रकार बोली ॥१२॥

भो भो विभो कौतुकपूर्णपञ्च-स्वप्नान्यपश्यं निशि मानसञ्च ।
ममामुकं मेऽङ्गसमूहजेतो भृङ्गायते तन्मकरन्दहेतोः ॥१३॥

हे स्वामिन्, मैंने आज रातमें कौतुक-परिपूर्ण पांच स्वप्न देखे हैं। उनके मकरन्द (पराग) के सूंघनेके लिए मेरा मन भ्रमर जैसा उत्कण्ठित हो रहा है। आप ही मेरे सन्देहरूप मेघ-समूहके जीतनेवाले हैं। (इस लिए उन स्वप्नोंका फल कहिये।) ॥१३॥

सुराद्रिरेवाद्रियते मयाऽऽदौ निधाय चित्ते भवदीयपादौ ।
नादौ सुराङ्कोऽच्युतिशङ्कयेव केनोद्धृतः स्तम्भ इवाथि देव ॥१४॥

हे देव, आपके चरणोंको चित्तमें धारण करके (जब मैं सो रही थी, तब) मैंने सबसे आदिमें सुरगिरि (सुमेरु-पर्वत) देखा, जो कि ऐसा प्रतीत होता है, मानों अधर रहनेवाले स्वर्गलोकके नीचे गिरनेकी शंकासे ही किसीने उसके नीचे अनादि से यह सुदृढ स्तम्भ लगा दिया हो ॥१४॥

दृष्टः सुरानोकहको विशाल-शाखाभिराक्रान्तदिगन्तरालः ।
किमिच्छदानेन पुनस्त्रिलोकीमापूरयन् हे सुकृतावलोकिन् ॥१५॥

हे सुकृतावलोकिन्, (पुण्यशालिन्,) दूसरे स्वप्न में मैंने अपनी विशाल शाखाओंसे दशों दिशाओंको पूरित करनेवाला और किमिच्छिक दानसे त्रिलोकवर्ती जीवोंकी आशाओंको पूरित करनेवाला कल्पवृक्ष देखा है ॥१५॥

सम्भावितोऽतः खलु निर्विकारः प्रस्पष्टमुक्ताफलताधिकारः ।
पयोनिधिस्त्वद्हृदि वाप्यवार-पारोऽतलस्पर्शितयाऽत्युदारः ॥१६॥

हे स्वामिन्, तीसरे स्वप्न में मैंने आपके हृदयके समान निर्विकार (क्षोभ रहित प्रशान्त), अपार वार, अगाध और उदार सागरको देखा है, जिसमें कि ऊपर मोती स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥१६॥

नयन्तमन्तं निखिलोत्करं तं समुज्ज्वलज्ज्वालतया लसन्तम् ।
अपश्यमस्यन्त्वमितो हुतं तत्स्फुलिङ्गजालं मुहुरुद्वमन्तम् ॥१७॥

हे नाथ, चौथे स्वप्नमें मैंने ऐसी निर्धूम अग्निको देखा – जो कि समीपवर्ती इन्धनको जला रही थी। जिसमेंसे प्रकाशमान बड़ी-बड़ी ज्वालाएं चारों ओरसे निकल रही थीं, जो हवन की हुई सामग्रीको भस्मसात् कर रही थी और जिसमेंसे वार-वार स्फुलिंग-जाल (अग्नि-कण) निकलकर सर्व ओर फैल रहे थे ॥१७॥

विहाय सार्ग्रं विहरन्तमेव विमानमानन्दकरं च देव ।
दृष्ट्वा प्रबुद्धः सुखसम्पदेवं श्रुतं तदेतद्भवतान्मुदे वः ॥१८॥

हे देव, पांचवें स्वप्नमें मैंने आकाशमें विहार करते हुए आनन्दकारी विमानको देखा। इन सुख-सम्पत्तिशाली स्वप्नोंको देखकर मैं प्रबुद्ध (जागृत) हो गई। मुझे इनके देखनेसे अत्यन्त हर्ष हुआ है और इनके सुननेसे आपको भी प्रमोद होवे ॥१८॥

यदादिदृष्टाः समदृष्टसारास्तदादिसृष्टा हृदि मुन्ममारात् ।
स्पष्टं सुधासिक्तमिवाङ्गमेतदुदश्चनप्रायमुदीच्यतेऽतः ॥१९॥

हे स्वामिन्, जबसे मैंने उत्तम पुण्यके सारभूत इन स्वप्नोंको देखा है, तभीसे मेरे हृदयमें असीम आनन्द प्राप्त हो रहा है और मेरा यह सर्वाङ्ग अमृतसे सींचे गयेके समान रोमाञ्चोंको धारण किये हुये स्पष्ट ही दिखाई दे रहा है ॥१९॥

इत्येवमुक्त्वा स्मरवैजयन्त्यां करौ समायुज्य तमानमन्त्याम् ।
किलाशिकेवाश्रिवति तेन मुक्ता महाशयेनापि सुवृत्तमुक्ताः ॥२०॥

इस प्रकार कहकर स्मर-वैजयन्ती (काम-पताका) उस सेठानीके हाथ जोड़कर नमस्कार करने पर महानुभाव वृषभदास सेठने भी उत्तम गोलाकारवाले मोतियोंसे युक्त मालाके समान सुन्दर पद्योंसे युक्त आशीर्वाद रूप वचनमाला उसे समर्पण की। अर्थात् उत्तर देना प्रारम्भ किया ॥२०॥

वार्ताऽप्यदृष्टश्रुतपूर्विका वः यस्या न केनापि रहस्यभावः ।
सम्पादयत्यत्र च कौतुकं नः करोत्यनूढा स्मयकौ तु कं न ॥२१॥

सेठ बोला – प्रिये; तुम्हारे द्वारा देखी हुई यह स्वप्नोंकी वात तो अदृष्ट और अश्रुत पूर्व है, न मैंने कभी ऐसी स्वप्नावली देखी है और न कभी किसीके द्वारा मेरे सुननेमें ही आई है। यह स्वप्नावली मुझे भी कौतुक उत्पन्न कर रही है। अविवाहित युवती पृथ्वी पर किसके कौतुक उत्पन्न नहीं करती है? इस स्वप्नावली का रहस्य भाव तो किसीको भी ज्ञात नहीं है, फिर मैं तुम्हें क्या बतलाऊँ ॥२१॥

अस्याः क आस्तां प्रियएवमर्थः वक्तुं भवेद्योगिवरः समर्थः ।
भाग्येन तेनास्तु समागमोऽपि साकं किलाकं यदि नोऽवलोपि ॥

इस स्वप्नावलीका क्या प्रिय अर्थ होगा, इसे कहनेके लिए तो कोई श्रेष्ठ योगिराज ही समर्थ हो सकते हैं । भाग्यसे ही ऐसे योगियोंके साथ समागम संभव है । हमारे यदि पापोंका लोप हो रहा है, तो उनका भी समागम हो ही जायगा ॥२२॥

संस्मर्यतां श्रीजिनराजनाम तदेव नश्चेच्छितपूर्तिधाम ।
पापापहारीति वयं वदामः सम्विघ्नबाधामपि संहरामः ॥२३॥

अतएव श्री जिनराजका नाम ही हमें स्मरण करना चाहिए, वही पापोंका अपहारक, सब विघ्न-बाधाओंका संहारक और इच्छित अर्थका पूरक है, ऐसा हमारा कहना है ॥२३॥

प्रत्याव्रजन्तामथ जम्पती तौ तदेकदेशे नियतं प्रतीतौ ।
मुनिं पुनर्धर्ममिवात्तमूर्त्तिं सतां समन्तात्कृतशर्मपूर्त्तिम् ॥२४॥

(ऐसा विचार कर सेठ और सेठानी दोनोंने जिनालयमें जाकर भगवान्‌की पूजा की ।) वहीं उन्हें ज्ञात हुआ कि इसी जिनालयके एक स्थान पर मुनिराज विराजमान हैं । उन दोनों ने जाकर धर्मको साक्षात् मूर्त्तिको धारण करनेवाले, तथा सज्जनों के लिए सुख-सम्पदाकी पूर्त्ति करनेवाले ऐसे योगिराजके दर्शन किये ॥२४॥

केशान्धकारीह शिरस्तिरोऽभूद् दृष्ट्वा मुनीन्दुं कमलश्रियो भूः ।
करद्वयं कुड्मलतामयासीत्तयोर्जजृम्भे मुदपां सुराशिः ॥२५॥

मुनिराजरूप चन्द्रमाको देखकर सेठ और सेठानीका आनन्दरूप समुद्र उमड़ पड़ा, केशरूप अन्धकारको धारण करनेवाला उनका मस्तक झुक गया, उनका मुख कमलके समान विकसित हो गया और दोनों हस्त-कमल मुकुलित हो गये । भावार्थ – भक्ति और आनन्दसे गद्-गद् होकरके अपने हाथोंको जोडकर उन्होंने मुनिराजको नमस्कार किया ॥२५॥

कृतापराधाविव बद्धहस्तौ जगद्धितेच्छोद्रुतमग्रतस्तौ ।
मिथोऽथ तत्प्रेमसमिच्छुकेषु संक्लेशकृत्वाद्रतिकौतुकेषु ॥२६॥

जगत्के प्राणिमात्राका हित चाहनेवाले उन मुनिराजके आगे हाथ जोडकर बैठे हुये वे सेठ और सेठानी ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो परस्पर प्रेमके इच्छुक स्त्री-पुरुषोंमे संक्लेशभाव उत्पन्न कर देनेके कारण जिन्होंने अपराध किया है और जिन्हें हाथ बाधकर लाया गया है, ऐसे रति और कामदेव ही बैठे हो ॥२६॥

करौ पलाशप्रकरौ तु तेन तयोर्निबद्धौ यतिनो गुणेन ।
दृष्ट्वेति निर्गत्य पलायिता वाङ् नमोऽस्त्विवतीदृङ् मधुला भिया वा ॥

पलाशके समान उनके दोनों हाथ यतिराजके गुणसे निबद्ध हो गये हैं, यह देखकर ही मानों भयभीत होकर उनके मुखसे 'नमोऽस्तु' ऐसी मधुर वाणी शीघ्र निकल पड़ी ॥२७॥

भावार्थ – इस श्लोकमें पठित पलाश, गुण और मधुर ये तीन पद द्वयर्थक हैं। पलाश नाम कोमल कोंपलका भी है और मांस-भक्षीका भी। गुण नाम स्वभाव या धर्मका भी है और डोरी या रस्सीका भी। मधुर नाम मीठेका भी है और मधु वा मदिराका भी है। इन तीनों पदोंके प्रयोगसे कविने यह भाव व्यक्त किया है कि जैसे कोई पुरुष मासका भक्षण और मदिराका पान करे, तो यह रस्सीसे बांधकर अधिकारी पुरुषके सम्मुख उपस्थित किया जाता है और वहां पर वह डरके मारे उसको हाथ पैर जोड़ने लगता है। प्रकृतमें इसे इस प्रकार घटाना चाहिए कि सेठ और सेठानीके दोनों हाथ कोंपलके समान लाल वर्णके थे, अतः पलाश (पल-भक्षण) के अपराधसे वे मुनिराजके गुणरूप डोरीसे बांध दिये गये और अपराधी होनेके कारण ही मानों उनके मुखसे नमस्कार-परक 'नमोऽस्तु' यह मधुर शब्द निकला और इसके बहानेसे ही मानों उन्होंने पिये गये मधु या मदिरा को बाहिर निकाल दिया।

समासाद्य तत्पावनमिङ्गितश्च तयोरुदर्कं सुरभिं समञ्चत्।
मधूपमं वाक्यमुदेति शस्यं मुनेर्मुखाब्जात्कुशलाशयस्य ॥२८॥

जैसे पवनके प्रवाहको पाकर जलाशयस्थ कमलका मधु पराग निकलकर सारे वातावरणको सुगन्धित कर देता है, वैसे ही इन सेठ-सेठानीके पावन स्वरूप निमित्तको पाकर पवित्र अभिप्रायवाले मुनिराजके मुख-कमलसे मधु-तुल्य मिष्ट प्रशसनीय वाक्य प्रगट हुये, जो कि उनके भविष्यको और भी अधिक सुरभित और आनन्दित करनेवाले थे ॥२८॥

मदुक्तिरेषा भवतोः सुवस्तु समस्तु किन्नो वृषवृद्धिरस्तु ।
अनेकधान्यार्थमुपायकर्त्रोर्महत्सु शीरोचितधामभर्त्रोः ॥२६॥

मुनिराज बोले – अनेक प्रकारसे परके लिए हितकारक उपायोंके करनेवाले और सूर्यके समान निर्मल ज्ञानरूप प्रकाशके भरनेवाले, अतएव महापुरुषोंमें गिने जानेवाले आप दोनोंके 'वृष-वृद्धि' हो और मेरी यह आशिष आपके लिए सुन्दर वस्तु सिद्ध हो ॥२६॥

भावार्थ – यह श्लोक भी द्व्यर्थक है । दूसरा अर्थ यह है कि जैसे अनेक प्रकारके धान्योंको उत्पन्न करनेके प्रयत्न करनेवाले और हल चला करके अपनी आजीविका करनेवाले किसानोंके लिए वृष अर्थात् बैलोंकी वृद्धि कल्याणकारी होती है, उसी प्रकार तुम्हारे भी धर्मवृद्धि रूप आशीर्वाद भविष्यमे सुफलदायी होवे ।

रत्नत्रयाराधनकारिणा वा प्रस्पष्टमुक्तोचितवृत्तभावा ।
समर्पिताऽधारि महाशयाभ्यां गुणावलीत्थं सहसाशयाभ्याम् ॥३०॥

जिस प्रकार इस व्यवहारी लोकमें खनिज (हीरा-पन्ना आदिक) जलज (सीप-मोती) और प्राणिज (गजमुक्ता) ये तीन प्रकारके रत्न प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकारसे आध्यात्मिक लोकमें प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप तीन महा रत्नोंके धारण करनेवाले श्री मुनिराजके द्वारा समर्पण की हुई, स्पष्ट रूपसे मुक्ताफलके समान वृष भाव (गोलाकारिता और छन्दरूपता) को धारण करनेवाली, आशीर्वादरूप गुणमयी मालाको वक्ष्यमाण

प्रकारसे विनम्र प्रार्थना करते हुए उस दम्पतीने बड़े आदरके साथ स्वीकार किया ॥३०॥

भवाँस्तरँस्तारयितुं प्रवृत्तः भव्यव्रजं भव्यतमैकवृत्तः ।
समो भवाब्धौ परमार्थनावा्यस्त्यस्माकमस्मात्परमार्थनावा ॥३१॥

सेठ-सेठानीने कहा – स्वामिन्, आपका व्यवहार अति उत्तम है, आप भव्यजनोंको परमार्थरूप नावके द्वारा ससार-समुद्रसे पार उतारनेमें प्रवृत्त हैं और स्वय पार उतर रहे हैं। प्रशसक और निन्दकमें समान हैं। अतएव हमारी भी एक प्रार्थना है ॥३१॥

स्वाकूतसङ्केतपरिस्पृशापि दृशा कृशाङ्ग्या दुरितैकशापी ।
सम्प्रेरितः श्रीमुनिराजपाद-सरोजयोः सावसरं जगाद ॥३२॥

अपने अभिप्रायको प्रकट करनेवाले सकेतकी दृष्टिसे उस कृशाङ्गी सेठानीके द्वारा प्रेरित और पापसे भयभीत ऋषभदास सेठने अवसर पाकर श्री मुनिराजके चरण-कमलोंमे इस प्रकार निवेदन किया ॥३२॥

सुमानसस्याथ विशांवरस्य मुद्रा विभिन्नास्य सरोरुहस्य ।
मुनीशभानोरभवत्समीपे लोकान्तरायाततमः प्रतीपे ॥३३॥

लोगोंके अन्तरङ्गमें विद्यमान अन्धकारके नाश करनेवाले मुनिराजरूप सूर्यके समीप मानसरोवरके समान विशाल और प्रसन्न चित्तवाले वैश्यवर सेठका मुखरूप कमल विकसित हो गया ॥३३॥

भावार्थ – जैसे सूर्यका सामीप्य पाकर कमल खिल जाता है, वैसे ही मुनिराजका सामीप्य पाकर सेठका मुख कमल खिल उठा, अर्थात् वह अपने हृदयकी बातको कहने लगा।

निशीक्षमाणा भगवँस्त्वदीय-पादाम्बुजालेः सहचारिणीयम् ।
मेरुं सुरद्रुं जलधिं विमानं निर्धूमवह्निं च न तद्विदा नः ॥३४॥

हे भगवन् आपके चरण-कमलोंमें भ्रमरके समान रुचि रखनेवाले मुझ दासको इस सहधर्मिणीने रात्रिमें सुमेरुपर्वत, कल्पवृक्ष, समुद्र, विमान और निर्धूम अग्नि ये पांच स्वप्न देखे हैं। इनका क्या रहस्य है, सो हम लोग नहीं जानते हैं ॥३४॥

किं दुष्फला वा सुफलाऽफला वा स्वप्नावलीयं भवतोऽनुभावात् ।
भवानहो दिव्यदृगस्ति तेन संश्रोतुमिच्छा हृदि वर्तते नः ॥३५॥

यह स्वप्नावली क्या दुष्फलवाली है, अथवा सुफलवाली है, या निष्फल जानेवाली है, यह बात हम आपकी कृपासे जानना चाहते है। अहो भगवन्, आप दिव्य दृष्टि हैं, अतएव हमारे मनमे इन स्वप्नोंका फल सुननेकी इच्छा है ॥३५॥

श्रीश्रेष्ठिवक्त्रेन्दुपदं वहन्वा स्वयं गुणानां यतिराडुदन्वान् ।
एवं प्रकारेण समुज्जगर्ज पर्यन्ततो मोदमहो ससर्ज ॥३६॥

श्री वृषभदास सेठके मुखरूप चन्द्रसे निकली हुई वाणी रूप किरणका निमित्त पाकर गुणोंके सागर मुनिराजने इस प्रकारसे गंभीर गर्जना की, जिससे कि समीपवर्ती सभी लोग प्रमोदको प्राप्त हुए ॥३६॥

अहो महाभाग तवेयमार्या पुम्भूतसन्तानमयैककार्या ।
भविष्यतीत्येव भविष्यते वा क्रमः क्रमात्तद्गुणधर्मसेवा ॥३७॥

अहो महाभाग, तुम्हारी यह भार्या पुनीत पुत्ररूप सन्तान को उत्पन्न करेगी। उस होनहार पुत्रके गुण-धर्मोंको क्रमशः प्रकट करनेवाले ये स्वप्न हैं ॥३७॥

स्वप्नावलीयं जयतूत्तमार्था चेष्टा सतां किं भवति व्यपार्था ।
किमर्कवच्चाम्रमहीरुहस्य पुष्पं पुनर्निष्फलमस्तु पश्य ॥३८॥

यह स्वप्नावली उत्तम अर्थको प्रकट करनेवाली है। क्या सज्जनोंकी चेष्टा भी कभी व्यर्थ जाती है। क्या आकवृक्षके पुष्प के समान आम्रके पुष्प भी कभी निष्फल जाते हैं, इसे देखो (विचारो) ॥३८॥

भावार्थ – आकड़ेके फूल तो फल-रहित होते हैं, परन्तु आम्रके नहीं। इसी प्रकार दुर्भाग्यवालोंके स्वप्न भले ही व्यर्थ जावें, किन्तु सौभाग्यवालोंके स्वप्न व्यर्थ नही जाते। वे सुफल ही फलते हैं।

भूयात्सुतो मेरुरिवातिधीरः सुरद्रुवत्सम्प्रति दानवीरः ।
समुद्रवत्सद्गुणरत्नभूपः विमानवत्सौरभवादिरूपः ॥३९॥

निर्धूमवह्नार्चिरिवान्ततस्तु स्वकीयकर्मेन्धनभस्मवस्तु ।
जानीहि ते सम्भविपुत्ररत्नं जिनार्चने त्वं कुरु सत्प्रयत्नम् ॥४०

तुम्हारे सुमेरुके समान प्रतिधीर वीर पुत्र होगा। वह कल्पवृक्षके समान दानवीर होगा, समुद्रके समान सद्-गुणरूप रत्नोंका भाण्डार होगा, विमानके समान स्वर्गवासी देवोंका भी वल्लभ होगा और अपने जीवनके अन्तमें निर्धूम अग्निके समान अपने कर्मरूप इन्धनको भस्मसात् करके शिवपदको प्राप्त करेगा। हे वैश्यवरोत्तम, तुम्हारे ऐसा श्रेष्ठ पुत्ररत्न होगा, यह तुम स्वप्नों का भविष्यफल निश्चयसे जानो। अतः अब जिनेन्द्रदेवके पूजन-अर्चनमें सत्प्रयत्न करो ॥३९-४०॥

पयोमुचो गर्जनयेव नीतौ मयूरजाताविव जम्पती तौ।
उदञ्चदङ्करुहसम्प्रतीतौ मुनेर्गिरा मोदमहो पुनीतौ ॥४१॥

मेघोंकी गर्जना सुनकर जैसे मयूर-मयूरनी अति प्रमोदको प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार वे दम्पती सेठ-सेठानी भी मुनिराजकी यह उत्तम वाणी सुनकर अत्यन्त प्रमोदको प्राप्त हुए और उनका सारा शरीर रोमाञ्चित हो गया ॥४१॥

बभावथो स्वातिशयोपयुक्ति-मती सती पुण्यपयोधिशुक्तिः।
मुक्तात्मभावोदरिणी जवेन समर्हणीया गुणसंस्तवेन ॥४२॥

जैसे स्वातिनक्षत्रकी बिन्दुको अपने भीतर धारण कर समुद्रकी सीप शोभित होती है, वैसे ही अपने पूर्वोपार्जित सातिशय पुण्यके योगसे मोक्षगामी पुत्रको अपने गर्भमें धारण कर वह सती सेठानी भी परम शोभाको प्राप्त हुई और गर्भ-धारणके

निमित्तसे अपने उदरकी कृशताको छोड़कर वह अनेक गुणोंसे संयुक्त होकर लोगोंसे पूजनीय हो गई ॥४२॥

तस्याः कृशीयानुदरो जयाय बलित्रयस्यापि तदोदियाय ।
श्रीविग्रहे स्निग्धतनोर्यथावत्सोऽन्तःस्थसम्यग्बलिनोऽनुभावः ॥४३॥

उस कृशोदरी सेठानीका अति कृश उदर भी तीन बलियों के जीतनेके लिए उस समय उदयको प्राप्त हुआ, सो यह उस गर्भस्थ अतिबलशाली पुत्रका ही प्रभाव था। अन्यथा कौन कृशकाय मनुष्य तीन बलशालियोंसे युद्धमें विजय प्राप्त कर सकता है ॥४३॥

भावार्थ – जब किसी कृशोदरी स्त्रीके गर्भ रहता है, तो गर्भ-वृद्धिके साथ-साथ उसके उदरमें जो त्रिबली (तीन बलं) होती हैं, वे क्रमशः समाप्त हो जाती हैं। इस बातको ध्यानमें रखकर कवि उत्प्रेक्षा करते हुए कहते हैं कि किसी कृश शरीर वालेकी यह हिम्मत नहीं हो सकती कि वह तीन बलशाली लोगोंके मुकाबिलेमें खडा हो सके। पर उस सेठानीका कृश उदर अपनी कृशताको छोड़कर जो वृद्धिको प्राप्त होता हुआ उन तीन बलियोंका मान-भंग कर रहा था, वह उसके गर्भस्थ पुत्रके पुण्यका प्रताप था।

इहोदयोऽभूदुदरस्य यावत् स्तनानने श्यामलताऽपि तावत् ।
स्वभावतो ये कठिना सहेरं कुतः परस्याभ्युदयं सहेरन् ॥४४॥

उस सेठानीके उदरकी इधर जैसे-जैसे वृद्धि हो रही थी, उधर वैसे-वैसे ही उसके कठोर स्तनोंके मुख पर कालिमा भी

आकर अपना घर कर रही थी। सो यह ठीक ही है, क्योंकि जो लोग स्वभावसे कठोर होते है, वे दूसरेके अभ्युदयको कैसे सहन कर सकते हैं ॥४४॥

कुचावतिश्यामलचूचुकाभ्यां सभृङ्गपद्माविव तत्र ताभ्याम् ।
सरोवरे वा हृदि कामिजेतुर्विरेजतुः सम्प्रसरच्छरे तु ॥४५॥

अपने सौन्दर्यसे कामदेवकी स्त्री रतिको भी जीतनेवाली उस सेठानीके हृदयरूप सरोवरमें विद्यमान कुच अति श्याम मुख वाले चूचुकोंसे ऐसे प्रतीत होते थे, जैसे गुलाबी रगवाले कमलोंके ऊपर बैठे हुए भौंरे शोभित होते हैं ॥४५॥

भावार्थ – सरोवरमे जैसे जल भरा रहता है, कमल खिलते हैं और उन पर आकर भौंरे बैठते है वैसे ही सेठानीके हृदय पर जलस्थानीय हार पडा हुआ था और उसमें कमल-तुल्य स्तन थे, तथा उनके काले मुखवाले चूचुक भौंरेसे प्रतीत होते थे।

वपुः सुधासिक्तमिवातिगौरं वक्त्रं शरच्चन्द्रविचारचौरम् ।
यथोत्तरं पीवरसत्कुचोरःस्थलं त्वगाद्गर्भवती स्वतोऽरम् ॥४६॥

उस गर्भवती सेठानीका शरीर अमृत-सिंचनके समान उत्तरोत्तर गौर वर्णका होता गया, मुख शरद्-ऋतुके चन्द्रमाकी चन्द्रिकाको भी जीतनेवाला हो गया और उसके वक्षःस्थल पर अवस्थित कुच उत्तरोत्तर उन्नत और पुष्ट होते चले गये ॥४६॥

मग्नान्धुपात्यङ्गिहितैषिणस्तुक्-सतो हितं गर्भगतस्य वस्तु ।
मत्वाऽर्धसम्पूरितगर्ततुल्यामुवाह नाभिं सुकृतैककुल्या ॥४७॥

उस सुकृतशालिनी सेठानीकी नाभि जो अभी तक बहुत गहरी थी, वह मानों संसार-कूपमें पड़े हुये प्राणियोंके हितैषी गर्भ-स्थित पुत्रके पुण्य-प्रभावसे भरी जाकर अधभरे गड्ढेके समान बहुत कम गहरी रह गई थी ॥४७॥

रागं च रोषं च विजित्य बालः स्वच्छत्वमञ्चेदिति भावनालः ।
दृशोरमुष्या द्वितयेऽवतार कपर्दकोदारगुणो बभार ॥४८॥

इसके गर्भमें स्थित जो बालक है, वह राग और द्वेषको जीतकर पूर्ण स्वच्छता (निर्मलता) को प्राप्त करेगा, यह भाव प्रकट करनेके लिये ही मानो उसके दोनो नेत्र कोड़ीके समान श्वेतपनेको प्राप्त हो गये ॥४८॥

रहसि तां युवतिं मतिमानत उदरिणीं समुदैक्षत यत्नतः ।
निधिघटीं धनहीनजनो यथाऽधिपतिरेष विशां स्वदृशा तथा ॥४९

जैसे धन-हीन जन धनसे भरी मटकीको पाकर अति सावधानीके साथ एकान्तमे सुरक्षित रखता है, वैसे ही यह वैश्यों का स्वामी बुद्धिमान् सेठ भी अपनी इस गर्भिणी सेठानीकी एकान्तमे बड़े प्रयत्नके साथ रक्षा करने लगा ॥४९॥

परिवृद्धिमितोदरां हि तां सुलसद्धारपयोधराञ्चिताम् ।
मुमुदे समुदीक्ष्य तत्पतिर्भुवि वर्षामिव चातकः सतीम् ॥५०॥

जैसे मूसलाधार बरसती हुई वर्षाको देखकर चातक पक्षी अति प्रमोदको प्राप्त होता है, उसी प्रकार दिन पर दिन जिसके उदरकी वृद्धि हो रही है और जिसके स्तनमण्डल पर लटकता हुआ सुन्दर हार सुशोभित हो रहा है, ऐसी अपनी गर्भिणी उस सेठानीको देख-देख कर उसका स्वामी सेठ वृषभदास भी बहुत प्रसन्न होता था ॥५०॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
तेन प्रोक्तसुदर्शनोदय इयान् सर्गो द्वितीयो गतः
श्रीयुक्तस्य सुदर्शनस्य जननीस्वप्नादिवाक्सम्मतः ॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरी देवीसे उत्पन्न हुए, वाणीभूषण, बालब्रह्मचारी प० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर-विरचित इस सुदर्शनोदय काव्यमें सुदर्शनकी माताके स्वप्न देखने और उनके फलका वर्णन करनेवाला यह द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ ।



अथ तृतीयः सर्गः

सुषुवे शुभलक्षणं सुतं रविमैन्द्रीव हरित्सती तु तम् ।
खगसत्तमचारसूचिते समये पुण्यमये खलूचिते ॥१॥

इसके पश्चात् गर्भके नव मास व्यतीत होने पर, किसी पुण्यमयी शुभ वेलामे, जबकि सभी ग्रह अपनी-अपनी उत्तम राशि पर अवस्थित थे, उस सती जिनमती सेठानीने शुभ लक्षणवाले पुत्रको उत्पन्न किया, जैसे कि पूर्व दिशा प्रकाशवान् सूर्यको उत्पन्न करती है ॥१॥

उदरक्षणदेशसम्भुवा समये सा समपूजयत्तु वा ।
जगतीमुत विश्वमातरं परिमुक्ता परिचारिणीष्वरम् ॥२॥

जैसे स्वाति-बिन्दुके पानसे उत्पन्न हुए मोतीके द्वारा सीप शोभित होती है, उसी प्रकार उस मगलमयी वेलामे सेवा करने वाली महिलाओके मध्यमे अवस्थित उस सेठानीने अपने उदर-प्रदेशसे उत्पन्न हुए, उस बालकके द्वारा समस्त विश्वकी आधार-भूत इस पृथ्वीको अलकृत किया ॥२॥

शशिना सुविकासिना निशा शिशुनोत्सङ्गगतेन सा विशाम् ।
अधिपस्य बभौ तनूदरी विलसद्धंसचयाः सरोवरी ॥३॥

जैसे विकासको प्राप्त पूर्ण चन्द्रके द्वारा रात्रि और विलास करते हुए हंसके द्वारा सरोवरी शोभित होती है, उसी प्रकार अपनी गोदमें आये हुए उस कान्तिमान् पुत्रके द्वारा वह वैश्य-सम्राट् वृषभदासकी सेठानी सुशोभित हुई ॥३॥

सुतजन्म निशम्य भृत्यतः मुमुदे जानुजपञ्चमस्ततः ।
परिपालितताम्रचूडवाग् रविणा कोकजनः प्रगे स वा ॥४॥

तदनन्तर नौकरके मुखसे पुत्रका जन्म सुनकर वह वैश्य-श्रेष्ठ वृषभदास अति प्रमोदको प्राप्त हुआ। जैसे कि प्रभात कालमें ताम्रचूड (मुर्गा) की बाग सुनकर सूर्यका उदय जान चातक पक्षी प्रमुदित होता है ॥४॥

प्रमदाश्रुभिराप्लुतोऽभितः जिनपं चाभिषिषे च भक्तितः ।
प्रभुभक्तिरुताङ्गिनां भवेत्फलदा कल्पलतेव यद्भवे ॥५॥

हर्षके आंसुओंसे नहाये हुए सेठ वृषभदासने भक्ति-पूर्वक जिनगृह जाकर जिनेन्द्रदेवका अभिषेक किया। क्योंकि इस संसारमे प्रभुकी भक्ति ही प्राणियोंको कल्पलताके समान मनो-वाञ्छित फल-दायिनी है ॥५॥

करिराडिव पूरयन्महीमपि दानेन महीयसा स हि ।
महिमानमवाप विश्रुत-गुणयुक्तोन्नतवंशसंस्तुतः ॥६॥

प्रसिद्ध उत्तम गुणोरूप मुक्ताफलोसे युक्त एव उन्नत वशवाले उस सेठने गजराजके समान महान् दानसे सारी पृथ्वीको पूरित

करते हुए 'दानवीर' होनेकी महिमाको प्राप्त किया। भावार्थ – पुत्र-जन्मके हर्षोपलक्षमे सेठ वृषभदासने सारी प्रजाको खूब ही दान देकर सम्मान प्राप्त किया ॥६॥

मृदुचन्दनचर्चिताङ्गवानपि गन्धोदकपात्रतः स वा ।
शुशुभे प्रचलन्निवामलःपृथुपद्मह्रदवान् हिमाचलः ॥७॥

मृदुल चन्दनसे चर्चित है अंग जिसका, ऐसा वह सेठ जिन-पूजन और दान करनेके अनन्तर गन्धोदक पात्रको हाथमे लेकर घरको आता हुआ ऐसा शोभित हो रहा था, मानो निर्मल विशाल पद्म सरोवरवाला हिमवान् पर्वत ही चल रहा हो ॥७॥

अवलोकयितुं तदा धनी निजमादर्श इवाङ्गजन्मनि ।
श्रितवानपि सूतिकास्थलं किमु बीजव्यभिचारि अङ्कुरः ॥८॥

घर पहुँच कर वह सेठ पुत्रको देखनेके लिए प्रसूतिस्थान पर पहुँचा और दर्पणके समान उत्पन्न हुए पुत्रमे अपनी ही छविको देखकर अति प्रसन्न हुआ। सो ठीक ही है – क्या अकुर बीजसे भिन्न प्रकारका होता है ? अर्थात् नही। भावार्थ – उत्पन्न होने वाला अकुर जैसे अपने बीजके समान होता है, उसी प्रकार यह पुत्र भी सेठके समान ही रूप-रग और आकृतिवाला था ॥८॥

परिपातुमपारयँश्च सोऽङ्गजरूपामृतमद्भुतं दृशोः ।
स्तुतवानुत निर्निमेषतां द्रुतमेवायुतनेत्रिणा धृताम् ॥९॥

अपने निमेष-उन्मेषवाले इन दोनों नेत्रोसे पुत्रके अद्भुत अपूर्व सौन्दर्यरूप अमृतका पान करता हुआ वह सेठ जब तृप्तिके

पारको प्राप्त नही हुआ, तब वह सहस्र नेत्र धारक इन्द्रकी निर्निमेष दृष्टिकी प्रशसा करने लगा। भावार्थ – सेठको उस पुत्रके दर्शन से तृप्ति नही हो रही थी और सोच रहा था कि यदि मैं भी सहस्र नेत्रका धारक निर्निमेष दृष्टिवाला इन्द्र होता; तो पुत्रके रूपामृतका जी भर कर पान करता ॥६॥

सुरवर्त्मवदिन्दुमम्बुधेः शिशुमासाद्य कलत्रसन्निधेः।
निचयः स्मितमत्विषाम मभवद्धामवतां गुणाश्रयः ॥१०॥

जैसे समुद्रसे चन्द्रका प्राप्त कर नक्षत्रोंका आधारभूत आकाश उसकी चन्द्रिकासे आलोकमय हो जाता है, उसी प्रकार गृहस्थोके गुणोका आधार वह सेठ भी प्रियासे प्राप्त हुए उस चन्द्र-तुल्य पुत्रको देखकर सस्मित मुख हो गया ॥१०॥

कुलदीपयशःप्रकाशितेऽप्यतमस्यत्र जनीजनैर्हिते।
समयोचितमात्रनिर्वृतिर्घटिता मङ्गलदीपकोद्धृतिः ॥११॥

श्रेष्ठिकुलके दीपक उस पुत्रके यश और शरीरकी कान्तिके द्वारा प्रकाशित उस प्रसूतिस्थानमे अन्धकारके अभाव होने पर भी कुलकी वृद्धा स्त्रियोने समयोचित कर्त्तव्यके निर्वाहके लिए माङ्गलिक दीपक जलाये ॥११॥

गिरमर्थयुतामिव स्थितां ससुतां सँस्कुरुते स्म तां हिताम्।
स ततो मृदुगन्धतोयतः जिनधर्मो हि कथञ्चिदित्यतः ॥१२॥

जिस प्रकार 'कथञ्चित्' चिह्नसे युक्त स्याद्वादके द्वारा जैनधर्म प्राणिमात्रका कल्याण करनेवाली अर्थ-युक्त वाणीका

संस्कार करता है, उसी प्रकार उस वृषभदास सेठने पुत्रके साथ अवस्थित उसकी हितकारिणी माताका मृदुल गन्धोदकसे जन्म-कालिक सस्कार किया। अर्थात् पुत्र और उसकी माता पर गन्धोदक क्षेपण किया ॥१२॥

सितिमानमिवेन्दुतस्तकर्मभिजातादपि नाभिजातकम् ।
परिवर्धयति स्म पुत्रतः स तदानीं मृदुयज्ञसूत्रतः ॥१३॥

तदनन्तर उस सेठने तत्कालके पैदा हुए उस बालकके नाभिनालको कोमल यज्ञ-सूत्रसे बाधकर उसे दूर कर दिया, मानो द्वितीयाके चन्द्रमा परसे उसके कलङ्कको ही दूर कर दिया हो ॥१३॥

स्नपितः स जटालवालवान् विदधत्काञ्चनसच्छविं नवाम् ।
अपि नन्दनपादपस्तदेह सुपर्वाधिभुवोऽभवन्मुदे ॥१४॥

तत्पश्चात् स्नान कराया गया वह काले भंवराले वालो वाला बालक तपाये हुए सोनेके समान नवीन कान्तिको धारण करता हुआ सेठके और भी अधिक हर्षका उत्पन्न करनेवाला हुआ, जैसे कि सुन्दर जटाओसे युक्त, जल-सिञ्चित क्यारीमे लगा हुआ नन्दनवनका वृक्ष (कल्पवृक्ष) देवताओंके हर्षको बढ़ानेवाला होता है ॥१४॥

सुतदर्शनतः पुराऽसकौ जिनदेवस्य ययौ सुदर्शनम् ।
इति चकार तस्य सुन्दरे सुतरां नाम तदा सुदर्शनम् ॥१५॥

पुत्र-जन्मका समाचार सुनकर सेठ पुत्र-दर्शनके पहिले जिनदेवके पुण्य-कारक दर्शनके लिए गया था, अतएव उसने स्वतः स्वभावसे सुन्दर उस बालकका नाम 'सुदर्शन' रक्खा ॥१५॥

द्युतिदीप्तिमताङ्गजन्मना शुशुभाते जननी धनी च ना ।
शशिना शुचिशर्वरीव सा दिनवच्छ्रीरविणा महायशाः ॥१६॥

कान्ति और दीप्तिसे युक्त उस पुत्रके द्वारा महान् यश वाले माता और पिता इस प्रकार शोभाको प्राप्त हुए, जिस प्रकार कि चन्द्रसे युक्त चांदनी रात और प्रकाशमान् सूर्यसे युक्त दिन शोभा को प्राप्त होता है ॥१६॥

मृदुकुड्मललग्नभृङ्गवत्स पयःपानमयेऽन्वयेऽभवत् ।
करपल्लवलालिते सुधा-लतिकाया अवनावहो बुधाः ॥१७॥

हे बुधजनो, माताके कर-पल्लवमें अवस्थित वह बालक स्तनोंसे दुग्ध-पान करते समय ऐसा प्रतीत होता था, मानो उत्तम पल्लव (पत्र) वाली अमृतलताके कोरकों पर लगा हुआ भौरा ही हो ॥१७॥

मुहुरुद्गिलनापदेशतस्त्वतिपातिस्तनजन्मनोऽन्वतः ।
अभितोऽपि भुवस्तलं यशःपयसाऽलङ्कृतवान्निजेन सः ॥१८॥

मात्रासे अधिक पिये गये दूधको वह बालक भूमि पर इधर-उधर उगलता हुआ ऐसा प्रतीत होता था, मानो अपने यश-स्वरूप दूधके द्वारा वह भूतलको सर्व ओरसे अलंकृत कर रहा है ॥ १८॥

निभृतं स शिवश्रियाऽभितः सुकपोले समुपेत्य चुम्बितः ।
शुशुभे छविरस्य साऽन्विताऽरुणमाणिक्य-सुकुण्डलोदिता ॥१६॥

यथासमय उस बालकके दोनो कानोमे लाल माणिकसे जड़े हुए कुण्डल पहिनाये गये । उनकी लाल-लाल कान्ति उसके स्वच्छ कपोलों पर पडती थी । वह ऐसी जान पडती थी, मानो प्रेमाभिभूत होकर शिव-लक्ष्मीने एकान्तमें आकर उसके दोनो कपोलों पर चुम्बन ही ले लिया है । अतः उसके ओष्ठोंकी लालिमा ही उस बालकके कपोलों पर अंकित हो गई है ॥१६॥

गुरुमाप्य स वै क्षमाधरं सुदिशो मातुरथोदयन्नरम् ।
भुवि पूज्यतया रविर्यथा नृदृगम्भोजमुदेऽव्रजत्तथा ॥२०॥

जैसे सूर्य पूर्व दिशारूपी माताकी गोदसे उठकर उदयाचल-रूप पिताके पास जाता है, तो सरोवरोके कमल विकसित हो जाते हैं और वह संसारमे पूजा जाता है, उसी प्रकार वह बालक भी जब अपनी सुकृतकारिणी माताकी गोदसे उठकर क्षमाको धारण करनेवाले पिताके पास जाता था, तब वह लोगोके नयन-कमलोको विकसित करता हुआ सभीके आदर भावको प्राप्त करता था । भावार्थ – सभी लोग उसे अपनी गोदमें उठाकर अपना प्रेम प्रकट करना चाहते थे ॥२०॥

जननीजननीयतामितः अणणाङ्के मृदुतामुताऽमितः ।
करपल्लवयोः प्रफुल्लता-समधारीह मता वपुष्मता ॥२१॥

जननी-तुल्य धायोंके हाथोमे खिलाया जाता हुआ वह कोमल और सुन्दर शरीरका धारक बालक ऐसा प्रतीत होता था, मानों किसी सुन्दर लताके कोमल पल्लवोंके बीचमें खिला हुआ सुन्दर फूल ही हो ॥२१॥

तुगहो गुणसंग्रहोचिते मृदुपल्यङ्क इवार्हतोदिते ।
शुचिबोधवदायतेऽन्वितः शयनीयोऽसि किलेति शायितः ॥२२॥

हे वत्स, श्री अरहन्त भगवान्के वचनोके समान असीम गुणोंके भरे, सम्यग्ज्ञानके समान बिशाल इस कोमल पलंग पर तुम्हें शयन करना चाहिए, ऐसा कहकर वे धायें उस बालकको सुलाया करती थी ॥२२॥

भावार्थ – नाना प्रकारकी उत्तम भावनाओसे भरी हुई लोरियाँ (गीत) गा-गाकर वे धायें उसे पालनेमें झुलाती हुई सुलाती थी ।

सुत पालनके सुकोमले कमले वा निभृतं समोऽस्यलेः ।
इति ताभिरिहोपलालितः स्वशयाभ्यां शनकैश्च चालितः ॥२३॥

अथवा, हे वत्स कमलके समान अति सुकोमल इस पालने मे भ्रमरके समान तुम्हे चुपचाप सोना चाहिए, इत्यादि लोरियों से उसे लाड़-प्यार करती हुई और अपने हाथोंसे धोरे-धोरे झुलाती हुई वे धायें उसे सुलाया करती थीं ॥२३॥

विधृताङ्गुलि उत्थितः क्षणं समुपस्थाय पतन् सुलक्षणः ।
म्रियते द्रुतमेव पाणिसच्चलयुग्मे स्म हितैषिणो हि सः ॥२४॥

जब कभी उसे अंगुलि पकड़ाकर खडा किया जाता था, तो वह सुलक्षण एक क्षण भरके लिए खड़ा रह कर ज्यों ही गिरनेके उन्मुख होता, त्यों ही शीघ्र वह किसी हितैषी बन्धुजनके कोमल कर-युगलमे उठा लिया जाता था ॥२४॥

अनुभाविमुनित्वसूत्रले प्रसरन् बालहठेन भूतले ।
तनुसौरभतोऽभ्यधाद्धरं धरणेर्गन्धवतीत्वमप्यरम् ॥२५॥

"आगामी कालमे मुनिपना स्वीकार करने पर मुझे इसी पर सोना पड़ेगा" मानों यही सूचित करते हुए वह बालक जब अपनी बाल हठसे भूतल पर लोट-पोट होता था, तब वह अपने शरीरके सौरभसे धूलिको सुरभित कर पृथ्वीके गन्धवतीत्व गुण को स्पष्ट कर दिखलाता था ॥२५॥

भावार्थ – वैशेषिक मतवालोंने पृथ्वीको गन्धवती कहा है, अर्थात् वे गन्धको पृथ्वीका विशेष या खास गुण मानते हैं । कवि ने उसे ध्यानमे रखकर यह उत्प्रेक्षा की है । साथ ही भूतल पर लोटनेकी क्रीड़ासे उनके भविष्य कालमें मुनि बननेकी भी सूचना दी है ।

द्रुतमाप्य रुदन्नथाम्बया पय आरात्स्तनयोस्तु पायितः ।
शनकैः समितोऽपि तन्द्रितां स्म न शेते पुनरेष शायितः ॥२६ ।

खेलते-खेलते वह बालक जब रोने लगता, तो माता भूखा समझ कर उसे शीघ्र स्तनोंसे लगाकर दूध पिलाने लगती । दूध

पीते-पीते जब वह अर्धनिद्रित-सा हो जाता, तो माता धीरेसे उसे पालनेमें सुलानेके लिए ज्यों ही उद्यत होती, त्यों ही वह फिर जाग जाता और सुलाने पर भी नहीं सोता था ॥२६॥

समवर्धत वर्धयन्नयं सितपक्षोचितचन्द्रवत्स्वयम् ।
निजबन्धुजनस्य सम्मदाम्बुनिधिं स्वप्रतिपत्तितस्तदा ॥२७॥

इस प्रकार अपनी सुन्दर चेष्टाओंके द्वारा अपने बन्धुजनों के आनन्दरूप समुद्रको बढ़ाता हुआ यह बालक शुक्ल पक्षके चन्द्रमाकी भांति स्वयं भी दिन पर दिन बढ़ने लगा ॥२७॥

विनताङ्गजवर्धमानता वदनेऽमुष्य सुधानिधानता ।
समभून्न कुतोऽपि वेदना भुवि बालग्रहभोगिभिर्मनाक् ॥२८॥

भूतलवर्ती अन्य साधारण बालक जैसे बालपनेमें होनेवाले नाना प्रकारके रोगरूप सर्पोसे पीडित रहते हैं, उस प्रकारसे इस बालकके शरीरमें किसी भी प्रकारकी जरा-सी भी वेदना नहीं हुई। प्रत्युत विनताके पुत्र वैनतेय (गरुड़) के समान रोगरूप सर्पोंसे वह सर्वथा सुरक्षित रहा, क्योंकि उसके मुखमें अमृत रहता हैं। इस प्रकार वह बालक सर्वथा नीरोग शरीर, एव सदा विकसित मुख रहते हुए बढ़ रहा था ॥२८॥

सुमवत्समतीत्य बालतां प्रभवन् प्रेमपरायणः सताम् ।
सुगुरोरुपकण्ठमःसवानपि कौमाल्यगुणं गतः स वा ॥२९॥

जैसे सुमन (पुष्प) लताका त्याग कर और सूतमें पिरोया जाकर मालाके रूपमें श्रेष्ठ गुरुजनोंके गलेको प्राप्त हो सज्जनोंका

प्यारा होता है, उसी प्रकार वह सुन्दर मनवाला बालक सुदर्शन भी बालभावका त्याग कर और गुणोंसे संयुक्त कुमार पनेको प्राप्त होकर किसी सुयोग्य गुरुके साम्निध्यको प्राप्त कर सज्जनोंका प्रेम-पात्र हुआ। भावार्थ – कुमारपना प्राप्त होते ही वह गुरुके पास विद्याध्ययन करनेके लिए भेजा गया ॥२६॥

कुशलसद्भावनोऽम्बुधिवत् सकलविद्यासरित्साचिवः।
सहजभावेन सञ्जातः सुदर्शन एष भो भ्रातः ॥३०॥

हे भाई, कुशलता और सद्-भावनावाला यह सुदर्शन समुद्रके समान सहज भावसे ही समस्त विद्यारूपी नदियोंके द्वारा सम्पन्न हो गया और अपने नामको सार्थक कर दिखाया ॥३०॥

भावार्थ – जैसे समुद्र कुश (जल) के सद्-भावसे सदा शोभायमान रहता है और नदियां स्वतः स्वभाव उसमे आकर मिलती रहती है, उसी प्रकार यह सुदर्शन अपनी कुशलता और गुरु-सेवा आदि सत्कार्योंके द्वारा अनायास ही सर्व विद्याओंमें पारगत हो गया और इसी कारण वह सच्चा 'सुदर्शन' बन गया।

परमागमपारगामिना विजिता स्यां न कदाचनाऽमुना।
स्म दधाति सुपुस्तकं सदा सविशेषाध्ययनाय शारदा ॥३१॥

परमागमके पारगामी इस सुदर्शनके द्वारा कदाचित् मैं पराजित न हो जाऊं, ऐसे विचारसे ही शारदा (सरस्वती)

देवी विशेष अध्ययनके लिए पुस्तकको सदा हाथमें धारण करती हुई चली आ रही है ॥३१॥

भावार्थ – सरस्वतीको 'वीणा-पुस्तक-धारिणी' माना गया है। उस परसे कविने सुदर्शनको लक्ष्यमें रखकर उक्त कल्पना की है।

युवतां समवाप बाल्यतः जडताया अपकारिणीमतः ।
शरदं भुवि वर्षणात् पुनः क्षणवल्लक्षणमेत्य वस्तुनः ॥३२॥

जैसे वर्षा ऋतुमें पानी बरसनेके कारण भूतल पर जलकी अधिकतासे लोगोंका अपकार करनेवाली कीचड हो जाती है और शरद्ऋतु आने पर वह कीचड़ सूख जाती है और लोगों का मन प्रसन्नतासे भर जाता है, उसी प्रकार बालकपनेमें होने वाली अपकारिणी जड़ता (अज्ञता) को छोडकर वह सुदर्शन युवावस्थाको प्राप्त हुआ। सो ठीक ही है, क्योंकि परिवर्तन-शीलता वस्तुका स्वभाव ही है ॥३२॥

युवभावमुपेत्य मानितं वपुरेतस्य च कौतुकान्वितम् ।
बहुमञ्जुलतासमन्वितं मधुनोद्यानमिवावभावितः ॥३३॥

युवावस्थाको प्राप्त होकर इस सुदर्शनका शरीर नाना प्रकारके कौतूहलोंसे युक्त होकर और अत्यधिक मंजुलता (सौन्दर्य) को धारण कर शोभायमान होने लगा। जैसे कि कोई सुन्दर लताओंवाला उद्यान वसन्त ऋतुको पाकर नाना

प्रकारके कौतुकों (फूलों) और फलोंसे आच्छादित होकर शोभित होने लगता है ॥३३॥

अथ सागरदत्तसंज्ञिनः वणिगीशस्य सुतामताङ्गिनः ।
समुदीक्ष्य मुदीरितोऽन्यदा धृत आसीत्तदपाङ्गसम्पदा ॥३४॥

उसी नगरमें सागरदत्त नामका एक और भी वैश्यपति (सेठ) रहता था । उसके एक अति सुन्दर मनोरमा लड़की थी । किसी समय जिनमन्दिरमें पूजन करता हुआ वह सुदर्शन उसे देखकर उसके कटाक्ष-विक्षेपरूप सम्पदासे उस पर मोहित हो गया ॥३४॥

रतिराहित्यमद्यासीत् कामरूपे सुदर्शने ।
ततो मनोरमाऽप्यासील्लतेव तरुणोज्झिता ॥३५॥

इधर तो साक्षात् कामदेवके रूपको धारण करनेवाला सुदर्शन रति (कामकी स्त्री) के अभावसे विकलताका अनुभव करने लगा और उधर मनोरमा भी वृक्षके आश्रयसे रहित लताके समान विकलताका अनुभव करने लगी । भावार्थ – एक दूसरेको देखनेसे दोनों ही परस्परमें मोहित होकर व्याकुलताको प्राप्त हुए ॥३५॥

कुतः कारणतो जाता भवतामुन्मनस्कता ।
वयस्यैरिति पृष्टोऽपि समाह स महामनाः ॥३६॥

किस कारणसे आज आपके उदासीनता (अनमनापन) है, इस प्रकार मित्रोंके द्वारा पूछे जाने पर उस महामना सुदर्शनने उत्तर दिया ॥३६॥

यदद्य वाऽऽलापि जिनार्चनायामपूर्वरूपेण मयेत्यपायात् ।
मनोऽरमायाति ममाकुलत्वं तदेव गत्वा सुहृदाश्रयत्वम् ॥३७॥

आज जिन-पूजनके समय मैंने अपूर्व रूपसे (अधिक उच्च स्वरमे) गाया, उसकी थकानसे मेरा मन कुछ आकुलताका अनुभव कर रहा है, और कोई बात नही है, ऐसा हे मित्रो, तुम लोग समझो। इस श्लोक-पठित 'वाऽऽलापि' (बालाऽपि) और 'अपूर्वरूपेण' इस पदके प्रयोग-द्वारा यह अर्थ भी व्यक्त कर दिया कि पूजन करते समय जिस सुन्दर बालाको देखा है, उसके अपूर्व रूपसे मेरा मन आकुलताका अनुभव कर रहा है ॥३७॥

अहो किलाश्लेषि मनोरमायां त्वयाऽनुरूपेण मनो रमायाम् ।
जहासि मत्तोऽपि न किन्तु मायां चिदेति मेऽत्यर्थमकिन्तु मायाम् ॥
तमन्यचेतस्कमवेत्य तस्य संकल्पतोऽनन्यमना वयस्यः ।
समाह सद्यः कपिलक्षणेन समाह सद्यः कपिलः क्षणेन ॥३८॥
(युग्मम्)

सुदर्शनका यह उत्तर सुनकर अन्य मित्र तो उसके कथनको सत्य समझकर चुप रह गये। किन्तु कपिल नामका प्रधान मित्र उसके हृदयकी बातको ताड़ गया और बन्दरके समान चपलताके साथ मुस्कराता हुआ बोला — अहो मित्र, मुझसे भी मायाचार

करना नही छोड़ते हो ? मैं तुम्हारे अनमनेपनका रहस्य समझ गया हूँ, किन्तु हे दुखी मित्र, मेरी बुद्धि तुम्हारी मायाको जानती है, तुम्हारा मन रमा (लक्ष्मी) के समान सुन्दर उस मनोरमामे आसक्त हो गया है, सो यह तो तुम्हारे अनुरूप ही है ॥३८-३९॥

यदा त्वया श्रीपयतः समुद्राद्वे सोम सा कैरवहारमुद्रा ।
क्षिप्ताऽसि विक्षिप्त इवाधुना तु स्मितामृतैस्तावदितः पुनातु ॥४०॥

सोम-(चन्द्र-) समान सौम्य मुद्राके धारक हे सुदर्शन, समुद्रके समान विशाल राजमार्गवाले बाजारसे जाते हुए तुमने जबसे श्वेत कमलोके हार जैसी धवल मुद्रावाली उसे देखा है और उसपर अपनी दृष्टि फेकी है, तभीसे तुम विक्षिप्त चित्तसे प्रतीत हो रहे हो । (कहो मेरी बात सच है न ?) अब तो जरा अपने मन्द हास्यरूप अमृतसे इसे पवित्र करो । भावार्थ — अब तो जरा मुस्करा कर मेरी बातकी सचाईको स्वीकार करो ॥४०॥

सुदर्शन त्वञ्च चकोरचक्षुषः सुदर्शनत्वं गमितासि सन्तुष ।
तस्या मम स्यादनुमेत्यहो श्रुता किं चन्द्रकान्ता न कलावता द्रुता ॥

हे सुदर्शन, तुम भी उस चकोर-नयना मनोरमा के सुदर्शन बनोगे, इस बातका विश्वास कर हृदयमे सन्तोष धारण करो । मेरा अनुमान है कि उसका भी मन तुम पर मोहित हो गया है, क्योंकि कलावान् चन्द्रमाको देखकर चन्द्रकान्तमणि द्रवित न हुई हो, ऐसा क्या कभी सुना गया है ? ॥४१॥

तदेतदाकर्ण्य पिताऽप्यचिन्तयत्किमग्रहीच्चित्तविधौ स्तनन्धयः ।
किमेतदस्मद्वशवर्तिकल्पनमहो दुराराध्य इयान् परो जनः ॥४२॥

सुदर्शनकी मनोरमा पर मोहित होनेकी बातको सुनकर पिता विचारने लगा – कि इस बालकने अपनी मनोवृत्तिमे यह क्या हठ पकड़ ली है । क्या यह अपने वशकी बात है ? अहो, अन्य जन दुराराध्य होता है । भावार्थ – अन्य मनुष्यको अपने अनुकूल करना बहुत कष्ट-साध्य होता है, वह अपनी बातको माने, या न माने, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है ॥४२॥

इति तच्चिन्तनेनैवाऽऽकृष्टः सागरदत्तवाक् ।
स्वयमेवाऽऽजगामाहो फलतीष्टं सतां रुचिः ॥४३॥

इस प्रकार वृषभदास सेठके चिन्तवनसे ही मानो आकृष्ट हुए सागरदत्त सेठ स्वय ही आ उपस्थित हुए । ग्रन्थकार कहते है कि सागरदत्त सेठके इस प्रकार अचानक स्वयं आजानेमें कोई आश्चर्यकी बात नही है, क्योंकि सुकृतशाली सज्जनोकी इष्ट वस्तु स्वयं ही फलित हो जाती है ॥४३॥

तमेनं विधुमालोक्य स उत्तस्थौ समुद्रवत् ।
सुदर्शनपिताऽप्यत्राऽऽतिथ्यसत्कारतत्परः ॥४४॥

समुद्रदत्त सेठको इस प्रकार सहसा आया हुआ देखकर सुदर्शनका पिता वृषभदास सेठ भी चन्द्रमाको देखकर समुद्रके समान अति हर्षित हो अतिथि-सत्कार करनेके लिए तत्परताके साथ उठ खड़ा हुआ ॥४४॥

क्षेमप्रश्नानन्तरं ब्रूहि कार्यमित्यादिगः प्रोक्तवान् सागरार्यः ।
श्रीमत्पुत्रायास्मदङ्गोद्भवा स्यान्नोचेद्धानिः सा पुनीताम्बुजास्या ॥

परस्पर कुशल क्षेम पूछनेके अनन्तर वृषभदास सेठ बोले – कहिये, अकस्मात् कैसे आपका शुभागमन हुआ है, क्या सेवा-योग्य कार्य है ? इस प्रकार पूछने पर सागरदत्त सेठ बोले – मैं आपके श्रीमान् सुदर्शन कुमारके लिए अपनी पुण्यगात्री कमल-वदना मनोरमा कुमारीको देना चाहता हूँ । यदि कोई हानि न हो, तो मेरी प्रार्थना स्वीकार की जाय ॥४५॥

भूमण्डलोन्नतगुणादिव सानुरागा -
गङ्गेव निर्मलरसोर्जितप्रयागा ।
याऽप्याजनि जगति भो जडराशिजेन
तस्याः प्रयोग इह यः खलु बालकेन ॥४६॥

भूयात्कस्य न मोदायेति वदन् श्रेष्ठिसत्तमः ।
वृषभोपपदो दासो जिनपादसरोजयोः ॥४७॥

सागरदत्त सेठ के उक्त वचनोंको सुनकर श्रीजिनराजके चरण-कमलोका दास श्रेष्ठिवर्य वृषभदास हर्षित होता हुआ बोला – भूमण्डलपर उन्नत मस्तकवाले हिमालय के समान उत्तम गुणवान्, परम अनुरागी श्रीमान्से उत्पन्न हुई, निर्मल जलसे उल्लसित होकर बहनेवाली प्रयागमें उत्तम जनोंसे पूजनीय ऐसी गंगाके समान रसमयी और उत्कृष्ट कुलवाले लोगोंके द्वारा प्रार्थनीय आपकी सुपुत्री यदि खारे जलवाले लवणसमुद्रके समान

मुग्ध जड़ बुद्धिवाले पुरुषके बालकके साथ संयोगको प्राप्त होती है, तो उनका यह सम्बन्ध पृथ्वीपर किसके प्रमोदके लिए न होगा ? ॥४६–४७॥

ततोऽनवद्ये समये तयोरभूत्करग्रहोदारमहोत्सवश्च भूः ।
अपूर्वमानन्दमगान्मनोरमा-सुदर्शनाख्यानकयोरपश्रमात् ॥४८॥

तदनन्तर उत्तम निर्दोष लग्न मुहूर्तके समय मनोरमा और सुदर्शन नामवाले उन दोनों वर-वधूका विवाह-महोत्सव बडे भारी समारोहके साथ सम्पन्न हुआ, जिसे देखकर समस्त लोग अपूर्व आनन्द को प्राप्त हुए ॥४८॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
तेन प्रोक्तसुदर्शनोदय इयान् सर्गो द्वितीयोत्तरः
श्रीयुक्तस्य सुदर्शनस्य च समुद्वाहप्रतिष्ठापरः ॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरी देवीसे उत्पन्न हुए वाणीभूषण, बालब्रह्मचारी प० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर - विरचित इस सुदर्शनोदय काव्यमें सुदर्शन-कुमारके विवाहका वर्णन करनेवाला तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ।



अथ चतुर्थः सर्गः

अथ कदापि वसन्तवदाययावुपवनं निजपल्लवमायया ।
जगदलं विदधत्सकलं भवानृषिवरः सुमनः समुदायवान् ॥१॥

अथानन्तर किसी समय उस नगरके उपवनमें वसन्तराज के समान कोई ऋषिराज अपने सघके साथ पधारे। जैसे वसन्तराज आता हुआ वृक्षोको पल्लवित कर जगत् में आनन्द भर देता है, उसी प्रकार ये ऋषिराज भी आते हुए अपने चरण-कमलोंकी शोभासे जगत् भरको आनन्दित कर रहे थे। जैसे वसन्तके आगमनपर वृक्ष सुमनो (पुष्पो) के समुदायसे सयुक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार ये ऋषिवर भी उत्तम मनवाले साधु-सन्तोंके समुदायवाले थे ॥१॥

प्रवरमात्मवतामभिनन्दिषु निखिलपौरगणोऽप्यभिनन्दिषुः ।
मुनिवरं वनमेष तदाऽव्रजच्छ्रियमितः स्वकरे कुसुमस्रजः ॥२॥

आत्मज्ञान और धर्मभावनाके धारक लोग जिन्हें देखकर आनन्दित होते हैं, ऐसे महात्माओंमें मुख्य गिने जानेवाले उन मुनिवरके अभिवन्दन करनेके इच्छुक समस्त पुरवासी लोग

अपने-अपने हाथोंमें पुष्पमालाओंको लेनेके कारण अनुपम शोभाको धारण करते हुए उपवनको चले ॥२॥

अजानुमन्विनं द्रष्टुं जानुजाधिपतिर्ययौ ।
परिवारसमायुक्तः परिवारातिवर्तिनम् ॥३॥

समस्त कुटुम्ब-परिवारके त्यागी और एकमात्र अपनी अजर-अमर आत्माका अनुभव करनेवाले उन मुनिवरके दर्शनों के लिए वह वैश्याधिपति वृषभदास सेठ भी अपने परिवारके लोगोंके साथ गया ॥३॥

उत्तमाङ्गं सुवंशस्य यदासीदृषिपादयोः ।
धर्मवृद्धिरभूदास्याद् गुणमार्गणशालिनः ॥४॥

जब उस उत्तम वंशमे उत्पन्न हुए सेठने अपने उत्तमाङ्ग (मस्तक) को ऋषिके चरणोमे रक्खा, तब गुणस्थान और मार्गणास्थानोके विचारशाली ऋषिराजके मुखसे 'धर्मवृद्धि' रूप आशीर्वाद प्रकट हुआ ॥४॥

भावार्थ — इस श्लोक का श्लेषरूप अर्थ यह भी है कि जैसे कोई मनुष्य गुण (डोरी) और मार्गण (बाण) वाला हो, उसे यदि उत्तम वंश (वांस) प्राप्त हो जाता है, तो वह सहजमें ही उसका धनुष बना लेता है । इसी प्रकार ऋषिराज तो गुण-स्थान और मार्गणास्थान के ज्ञान-धारक थे ही । उन्हें उत्तम वंशरूप वृषभदास सेठ प्राप्त हो गया, अतः सहजमें ही धर्मवृद्धि रूप धनुष प्रकट हो गया ।

स्वरूपं श्रोतुमिच्छामि धर्मसन्नामवस्तुनः ।
इति श्रेष्ठिसमाकूतं निशम्याऽऽह यतीश्वरः ॥५॥

जब मुनिराजने धर्मवृद्धिरूप आशीर्वाद दिया तब सेठने कहा – भगवन्, 'धर्म' इस सुन्दर नामवाली वस्तुका क्या स्वरूप है? इस प्रकार सेठके अभिप्रायको सुनकर मुनिराज बोले ॥५॥

धर्मस्तु धारयन् विश्वं तदात्मा विश्वमात्मसात् ।
विन्दन् भद्रतयाऽन्यार्थं विसृजेद् देहमात्मनः ॥६॥

जो विश्वको धारण करे अर्थात् सारे जगत् का प्रतिपालन करे, ऐसे शुद्ध वस्तु-स्वभावको धर्म कहते है । इस धर्मको धारण करनेवाला धर्मात्मा पुरुष सारे विश्वको अपने समान मानता हुआ अन्यके कल्याणके लिए भद्रता-पूर्वक अपने शरीरको अर्पण कर देगा, किन्तु अपने देहकी रक्षार्थ किसी भी जीव-जन्तुको कष्ट नही पहुँचाना चाहेगा ॥६॥

देही देहस्वरूपं स्वं देहसम्बन्धिनं गणम् ।
मत्वा निजं परं सर्वमन्यदित्येष मन्यते ॥७॥

यह संसारी प्राणी अपने द्वारा ग्रहण किये हुए इस शरीरको और शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले माता, पिता, पुत्रादि कुटुम्बी जनको अपना मानकर शेष सर्व को अन्य समझता है ॥७॥

रज्यमानोऽत्र इत्यत्र परस्मात्तु विरज्यते ।
एवं च मोहतो मर्त्यो लाति त्यजति चाङ्गकम् ॥८॥

अतः जिन्हें वह अपना समझता है, उन्हें इष्ट मानकर उनमें अनुराग करने लगता है और जिन्हें पर समझता है, उन्हें अनिष्ट मानकर उनसे विरक्त होता है अर्थात् विद्वेष करने लगता है। इस प्रकार मोहके वशीभूत होकर यह जीव इस संसार मे एक शरीरको छोड़ता और दूसरे शरीरको ग्रहण करता है और इस प्रकार वह जन्म-मरण करता हुआ ससारमें दुःख भोगता रहता है ॥८॥

पिता पुत्रत्वमायाति पुत्रः शत्रुत्वमन्यदा ।
शत्रुश्च मित्रतामित्यमङ्गभू रङ्गभूरिव ॥९॥

रगभूमि (नाटकघर) के समान इस संसारमें यह प्राणी कभी पिता बनकर पुत्रपनेको प्राप्त होता है, कभी पुत्र ही शत्रु बन जाता है और कभी शत्रु भी मित्र बन जाता है ॥९॥

भावार्थ — इस परिवर्तनशील संसारमें कोई स्थायी शत्रु या मित्र, पिता या पुत्र, माता या पुत्री बनकर नहीं रहता, किन्तु कर्म-वशीभूत होकर रंगभूमिके समान सभी वेष बदलते रहते हैं।

नेदमनुमन्दधानोऽयं सुयोगपयोगयोः ।
भूत्वा मोही दुरारोही वृथा हसति रौति च ॥१०॥

कर्म-परवशताके इस रहस्यको नही समझता हुआ यह अज्ञानी मोही जीव वृथा ही इष्ट वस्तुके सयोगमें हसता है और अनिष्ट वस्तुके संयोगमें रोता है ॥१०॥

सच्चिदानन्दमात्मानं ज्ञानी ज्ञात्वाऽङ्गतः पृथक् ।
तत्तत्सम्बन्धि चान्यच्च त्यक्त्वाऽऽत्मन्यनुरज्यते ॥११॥

किन्तु ज्ञानी जीव अपनी आत्माको शरीरसे भिन्न सत् (दर्शन) चित् (ज्ञान) और आनन्द (सुख) स्वरूप जानकर उसमे ही तल्लीन रहता है और शरीर एव शरीरके सम्बन्धी कुटुम्बादिको पर जानकर उनसे विरक्त हो उन्हे छोड़ देता है ॥ ११ ॥

संसारस्फीतये जन्तोर्भावस्तामस इष्यते ।
विलोमतामितो मुक्त्यै स्याल्लक्ष्माधर्मधर्मयोः ॥१२॥

जीवके तामसभाव-(विषय-कषायरूप प्रवृत्ति) को अधर्म कहा गया है । यह तामसभाव ही ससारको परम्पराका बढ़ाने वाला है और इससे विपरीत जो सात्त्विक भाव (समभाव या साम्यप्रवृत्ति) है, उसे धर्म कहा गया है । यह सात्त्विक भाव ही मुक्तिका प्रधान कारण है । संक्षेपमे यही धर्म और अधर्मका स्वरूप है ॥१२॥

वागेव कौमुदी साधु-सुधांशोरमृतस्रवा ।
तया वृषभदासस्याभून्मोहतिमिरक्षतिः ॥१३॥

इस प्रकार चन्द्रकी चन्द्रिकाके समान अमृत-वर्षिणी और जगद्-आह्लादकारिणी मुनिराजकी वाणीको सुनकर उस वृषभदास सेठका मोहरूप अन्धकार दूर हो गया ॥ १३ ॥

तमाश्विनं मेघहरं श्रितस्तदाऽधिपोऽपि दासो वृषभस्य सम्पदाम् ।
मयूरवन्मौनपदाय मन्दतां जगाम दृष्ट्वा जगतोऽप्यकन्दताम् ॥

मेघोंके दूर करनेवाले और कीचड़के सुखानेवाले आश्विन मासको पाकर जैसे मयूर मौनभावको अंगीकार करता है और अपने सुन्दर पुच्छ-पंखोंको नोंच-नोंचकर फेंक देता है, ठीक इसी प्रकारसे आश्विन मासरूप भ्रम-मेघ-हर मुनिराजको पाकर सम्पदाओंका स्वामी होकरके भी श्री वृषभदेवका दास वह वृषभदास सेठ जगत्‌की असारता और कष्ट-रूपताको देखकर मयूर-पंखोंके समान अपने सुन्दर केशोंको उखाड़कर और वस्त्राभूषण त्यागकर मुनिपदवीको प्राप्त हुआ, अर्थात् दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करके मुनि बन गया ॥१४॥

हे नाथ मे नाथ मनोऽविकारि सुराङ्गनाभिश्च तदेव वारि ।
मनोरमायां तु कथं सरस्यां सुदर्शनस्येत्थमभूत्समस्या ॥१५॥

मुनिराजकी वाणी सुनकर और अपने पिताको इस प्रकार मुनि बना देखकर सुदर्शन भी संसारसे उदास होता हुआ मुनिराजसे बोला — हे नाथ, हे स्वामिन्, मैं मानता हूं कि यह संसार असार है, विनश्वर है। पर देवाङ्गनाओंसे भी विकार-भावको नहीं प्राप्त होनेवाला मेरा यह मनरूप जल मनोरमारूपी

सरसी (सरोवरी) में अवश्य ही रम रहा है, यह मेरे लिए बड़ी कठिन समस्या है, जिससे कि मैं मुनि बननेके लिए असमर्थ हो रहा हूं। इस प्रकार सुदर्शनने अपनी समस्या मुनिराजसे प्रकट की ॥१५॥

मुनिराह निशम्येदं शृणु तावत्सुदर्शन ।
प्रायः प्राग्भवभाविन्यौ प्रीत्यप्रीती च देहिनाम् ॥१६॥

सुदर्शनको बात सुनकर मुनिराज बोले – सुदर्शन, सुनो– जीवोंके परस्पर प्रीति और अप्रीति प्राय: पूर्वभवके संस्कार वाली होती है। भावार्थ – तेरा जो मनोरमामे अति अनुराग है, वह पूर्वभवके सस्कार-जनित है, जिसे मैं बतलाता हूं, सो सुन ॥ १६ ॥

त्वमेकदा विन्ध्यगिरेर्निवासी भिल्लस्त्वदीयांघ्रियुगेकदासी ।
तयोरगाज्जीवनमत्ययेन निरन्तरं जन्तुबधाभिधेन ॥१७॥

पूर्वभवमें तुम एक वार विन्ध्याचलके निवासी भील थे और यह मनोरमा भी उस समय तुम्हारे चरण-युगलकी सेवा करनेवाली गृहिणी थी। उस समय तुम दोनों ही निरन्तर जीवोंका बध कर-करके अपना जीवन पापसे परिपूर्ण बिता रहे थे ॥ १७ ॥

मृत्वा ततः कुक्कुरतामुपेतः किञ्चिच्छुभोदर्कवशाच्चथेतः ।
जिनालयस्यान्तिकमेत्य मृत्युं सुतो बभूवाथ गवां स पत्युः ॥१८॥

भीलकी पर्यायसे मर कर तुम्हारा जीव अगले भवमें कुत्ता हुआ। कुछ शुभ होनहारके निमित्तसे वह कुत्ता किसी जिनालयके समीप आकर मरा और किसी गुवालेके यहां जाकर पुत्र हुआ ॥ १८ ॥

आकर्षताब्जं च सहस्रपत्रं तेनैकदा गोपसुतेकमत्र ।
इदं प्रवृद्धाय समर्पणीयं स्वयं नभोवाक् समुपालभीयम् ॥१९॥

एक वार सरोवरमें से सहस्रपत्रवाले कमलको तोड़ते हुए उस गुवालेके लड़केने यह आकाशवाणी सुनी कि वत्स, यह सहस्रदल कमल किसी बड़े पुरुषको समर्पण करना, स्वयं उपभोग न करना ॥ १९ ॥

सोऽस्मै त्वज्जनकायासौ राज्ञे राजा जिनाय च ।
समर्पयितुमैच्छत्तत्सर्वे प्राप्ता जिनालयम् ॥२०॥

गुवालेके लड़केने सोचा – हमारे नगरमें तो वृषभदास सेठ सबसे बडे आदमी हैं, अतः वह कमल देनेके लिए उनके पास पहुँचा और आकाशवाणीकी बात कहकर वह कमल उन्हे देने लगा। किन्तु सेठने कहा कि मेरे से भी बड़े तो इस नगरके राजा हैं, उन्हें यह देना चाहिए, ऐसा कहकर सेठ उस बालकको साथ लेकर राजाके पास पहुंचा और आकाशवाणीकी बात कहकर वह कमल उन्हें भेंट करने लगा। तब राजाने कहा कि मेरे से ही क्या, सारे त्रैलोक्यमें सबसे बड़े तो जिनराज हैं, यह उन्हें ही समर्पण करना चाहिए, ऐसा कहकर वे सब (राजा उन दोनोंको साथ लेकर) जिनालय पहुँचे ॥२०॥

सर्वेषामभिवृद्धाय जिनाय समहोत्सवम् ।
तत्र तद्दापयामास गोपबालकहस्ततः ॥२१॥

वहां पहुँचकर राजाने बड़े महोत्सवके साथ उस गोप-बालकके हाथसे वह सहस्रदल कमल त्रैलोक्यमें सबसे बड़े जिन-देवके लिए समर्पण करवा दिया, अर्थात् जिनभगवान् के आगे चढ़वा दिया ॥२१॥

गोदोहनाम्भोभरणादिकार्य-करं पुनर्गोपवरं स आर्यः ।
श्रेष्ठो मुहुः स्नेहतयाऽन्वरक्षीद् धर्माम्बुवाहाय न कः सपक्षी ॥

वृषभदास सेठने उस गुवालेके लडकेको योग्य होनहार देखकर अपनी गायोंके दुहने और जल भरने आदि कार्योंके करने के लिए अपने यहां नौकर रख लिया और बहुत स्नेहसे उसकी रक्षा करने लगा । सो ठीक ही है; धर्म-बुद्धिवाले जीव की कौन सहायता नहीं करता ॥ २२ ॥

मुनिं हिमर्तौ द्रुममूलदेश स्थितं वनान्ताद्दिवमात्ययें सः ।
प्रत्याव्रजन् वीक्षितवानुदारमात्मोत्तमाङ्गार्पितकाष्ठभारः ॥२३॥

एक समय शीतकालमें जबकि हिम-पात हो रहा था, वह गुवालका लड़का अपने शिर पर लकड़ियोंका भार लादे हुए वनसे शामको घर वापिस आरहा था, तब उसने मार्गमें एक वृक्षके नीचे आसन मांडकर बैठे हुए ध्यानस्थ उदार साधुको देखा ॥ २३ ॥

मत्तोऽप्यवित्तविधिरेष मयोपकार्यः
किन्नेति चेतसि स भद्रतया विचार्य ।
निश्चेलकं तमभिवीक्ष्य बभूव यावद्
रात्रं तदग्र उपकल्पितवह्निभावः ॥२४॥

वस्त्रसे रहित और ध्यानमें अवस्थित उन मुनिराजको देखकर भोलेपनसे वह विचारने लगा – अहो, ये तो मेरेसे भी अधिक निर्धन और गई बीती दशाको प्राप्त दिख रहे हैं ? फिर मुझे इनका उपकार क्यों न करना चाहिए ? ऐसा विचार कर वह सारी रात उनकी शीत-बाधाको दूर करनेके लिए उनके आगे आग जलाता हुआ बैठा रहा ॥२४॥

प्रातः समापितसमाधिरिहानगार-
धुर्यो नमोऽर्हत इतीदमदादुदारः ।
यत्स्मृक्तिपूर्वकमुपात्तविधेयवादः
व्यत्येति जीवनमथ स्म लसत्प्रसादः ॥२५॥

प्रात.काल जब अनगार-धुरीण (यति-शिरोमणि) उन मुनिराजने अपनी समाधि समाप्त की और सामने आग जलाते हुए उस गुवाल-बालकको देखा, तो उसे निकट भव्य समझकर उदार-मना उन मुनिराजने उसके लिए 'नमोऽर्हते' (णमो अरिहंताणं) इस महामंत्रको दिया और कहा कि इस मंत्रके स्मरण-पूर्वक ही प्रत्येक कार्यको करना । वह बालक सविनय मन्त्र ग्रहणकर और मुनिराजको वन्दना करके अपने घर चला आया और

प्रत्येक कार्यके प्रारम्भमें उक्त महामंत्रका उच्चारण करता हुआ आनन्द-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने लगा ॥२५॥

महिषीमेकदोद्धर्तुं सरस्येति स्म दूर्दितः ।
काष्ठसङ्घाततो मृत्युं मन्त्रस्मरणपूर्वकम् ॥२६॥
मद्दाम त्रप्रभावेणोत्पन्नोऽसि त्वं महामनाः ।
एतस्माद्भवतो मुक्तिं यास्यसीति विनिश्चिनु ॥२७॥
(युग्मम्)

एक दिन जब वह गाय-भैंसोंको चरानेके लिए जंगलमें गया हुआ था, तब एक भैंस किसी सरोवरमें घुस गई। उसे निकालनेके लिए ज्यों ही वह उक्त मन्त्र-स्मरण-पूर्वक सरोवरमें कूदा, त्यों ही पानीके भीतर पड़े हुए किसी तीक्ष्ण काष्ठके आघातसे वह तत्काल मर गया और उस महामंत्रके प्रभावसे हे सौभाग्य-शालिन्, वृषभदास सेठके तुम महामना पुत्र उत्पन्न हुए हो। (यद्यपि आज तुम्हें वैराग्य नहीं हो रहा है, तथापि) तुम इसी भवसे मोक्षको जाओगे, यह निश्चित समझो ॥२६-२७॥

भिल्लिनी तस्य भिल्लस्य मृत्वा रक्तात्त्विकाऽभवत् ।
ततश्च रजकी जाताऽमुष्मिन्नेव महापुरे ॥२८॥
तत्रास्याः पुण्ययोगेनाप्यार्यिकासंघसङ्गमात् ।
बभूव क्षुल्लिकात्वेन परिणामः सुखावहः ॥२९॥ (युग्मम्)

उस भीलकी भीलनी मरकर भैंस हुई। पुनः वह भैंस मरकर इसी ही महान् नगरमें धोबीकी लड़की हुई। वहां पर

उसके पुण्य-योगसे उसका आर्यिकाओंके संघके साथ समागम होगया, जिसका परिणाम बड़ा सुखकर हुआ, वह धोबिन क्षुल्लिका बन गई ॥२८-२९॥

वार्बिन्दुरेति खलु शुक्तिषु मौक्तिकत्वं
लोहोऽथ पार्श्वदृषदाऽञ्चति हेमसत्त्वम् ।
सत्सम्प्रयोगवशतोऽङ्गभृतां महत्त्वं
सम्पद्यते सपदि तद्वदभीष्टकृत्त्वम् ॥३०॥

देखो—जैसे जलकी एक बिन्दु सीपके भीतर जाकर मोती बन जाती है और पारस पाषाणका योग पाकर लोहा भी सोना बन जाता है, उसी प्रकार सन्त जनोंके संयोगसे प्राणियोंके भी अभीष्ट फलदायी महान् पद शीघ्र मिल जाता है। भावार्थ – वह नीच कुलीन धोबिन भी आर्यिकाओंके समागमसे क्षुल्लिका बन-कर कुलीन पुरुषोंके द्वारा पूजनीय बन गई ॥३०॥

शाटकं चोत्तरीयं च वस्त्रयुग्ममुवाह सा ।
कमण्डलुं शुक्तिपात्रमित्येतद्द्वितयं पुनः ॥३१॥

क्षुल्लिकाकी अवस्थामें वह एक श्वेत साड़ी (धोती) और एक श्वेत उत्तरीय (चादर) इन दो वस्त्रोंको अपने शरीर पर धारण करती थी, तथा कमण्डलु और थाली ये दो पात्र अपने साथ रखती थी। भावार्थ – शरीर-संवरणके लिए दो वस्त्र और खान-पानके लिए उक्त दो पात्रोंके अतिरिक्त शेष सर्व परिग्रहका उसने त्याग कर दिया था ॥३१॥

शाटीव समभूदेषा गुणानामधिकारिणी ।
सदारम्भादनारम्भादघादप्यतिवर्तिना ॥३२॥

वह क्षुल्लिका आरम्भिक और अनारम्भिक अर्थात् साङ्कल्पिक पापसे (जीवघातसे) दूर रहकर और दया, क्षमा, शील, सन्तोष आदि अनेक गुणोंकी अधिकारिणी बनकर श्वेत साड़ीके समान ही निर्मल बनगई ॥३२॥

भावार्थ – घरके खान-पान, लेन-देन, वाणिज्य-व्यवहार आदिके करनेसे होनेवाली हिंसाको आरम्भिक हिंसा कहते हैं और सङ्कल्प-पूर्वक किसी भी प्राणीके घात करनेको साङ्कल्पिक हिंसा कहते हैं। उस धोबिनने क्षुल्लिका बनकर दोनो ही प्रकारकी हिंसाका त्याग कर दिया था, अतः उसके दया, क्षमादि अनेक गुण स्वतः ही प्रकट हो गये थे। और इस प्रकार वह अपनी पापमय जीविका छोड़कर पवित्र जीवन बिताने लगी।

सत्यमेवोपयुञ्जाना सन्तोषामृतधारिणी ।
पर्वण्युपोषिता काल-त्रये सामायिकं श्रिता ॥३३॥

क्षुल्लिकापनेमें वह सदा सत्य वचन बोलती थी (झूठ बोलने और चोरी करनेका तो उसने सदाके लिए त्याग ही कर दिया था। निर्मल ब्रह्मचर्य व्रत पालती थी।) ऊपर कहे गये वस्त्र और पात्र-युगलके अतिरिक्त सर्व परिग्रहका त्याग कर देनेसे वह सन्तोषरूप अमृतको धारण करती थी। प्रत्येक अष्टमी चतुर्दशी के पर्व पर उपवास रखती थी और तीनों सन्ध्याकालोंमें सदा सामायिक करती थी ॥३३॥

भक्त्याऽर्पितं वह्न्युपक्लृप्तशाकं भैक्ष्येण भुक्त्वाऽथ दिवैकदा कम्
तदैव पीत्वाऽऽयुकसंघके तु स्थित्वा स्मरन्तो परमार्थनेतुः ॥३४॥

अग्नि-पक्व दाल-भात, शाक-रोटी आदि जिन भोज्य पदार्थोंको गृहस्थ भक्तिसे देता था, अथवा वह स्वयं भिक्षावृत्ति से ले आती थी, उन्हें ही एक बार दिनमें खाकर और तभी पानी पीकर वह आर्यिकाओंके संघमें रहती हुई सदा परमार्थ (मोक्ष-मार्ग) के नेता जिनदेवका स्मरण करती रहती थी ॥३४॥

सौहार्दमङ्गिमात्रे तु क्लिष्टे कारुण्यमुत्सवम् ।
गुणिवर्गमुदीक्ष्याऽगान्माध्यस्थ्यं च विरोधिषु ॥३५॥

वह सदा प्राणिमात्र पर मैत्रीभाव रखती थी, कष्टसे पीड़ित प्राणी पर करुणाभाव रखती हुई उसके दुखको दूर करने का प्रयत्न करती रहती थी, गुणी जनोंको देखकर अतीव हर्षित हो उत्सव मनाया करती थी और विरोधी विचारवाले व्यक्तियों पर माध्यस्थ्य भाव रखती थी ॥३५॥

वारा वस्त्राणि लोकानां क्षालयामास या पुरा ।
ज्ञानेनाथाऽऽत्मनश्चित्तमभूत्क्षालितुमुद्यता (क्षालयितुं गता)॥३६॥

जो धोबिन पहिले जलसे लोगोंके वस्त्रोंको धो-धोकर स्वच्छ किया करती थी। वही अब क्षुल्लिका बनकर ज्ञानरूप जलके द्वारा अपने मनके मैलको धो-धोकर उसे निर्मल स्वच्छ बनानेके लिए सदा उद्यत रहती थी ॥३६॥

सैषा मनोरमा जाता तव वत्स मनोरमा ।
सती सीतेव रामस्य यया भाति भवानमा ॥३७॥

हे वत्स सुदर्शन, वही क्षुल्लिका मरकर तुम्हारे मनको रमानेवाली यह मनोरमा हुई है। जैसे सीता रामके मनको हरण करती हुई पूर्वकालमे शोभित होती थी, उसी प्रकार आप भी इसके साथ इस समय शोभित हो रहे है ॥३७॥

व्युत्पन्नमानितत्वेन देवत्वं त्वयि युज्यते ।
देवीयं ते महाभाग समा समतिलोत्तमा ॥३८॥

हे महाभाग, व्युत्पन्न (विद्वान्) पुरुषोके द्वारा सम्मानित होनेसे तुममे देवपना प्रकट है और उत्तम लक्षणोवाली यह मनोरमा भी तिलोत्तमाके समान देवी प्रतीत हो रही है ॥३८॥

सर्वमेतच्च भव्यात्मन् विद्धि धर्मतरोः फलम् ।
कामनामरसो यस्य स्यादर्थस्तत्समुच्चयः ॥३९॥

हे भव्यात्मन्, तुम्हें जो कुछ सुख-सम्पदा, ऐश्वर्य आदिक प्राप्त हुआ है, वह सब पूर्वभवमे लगाये हुए धर्मरूप कल्पवृक्षका ही फल है। जैसे आम आदि फलमे रस, गुठली, बक्कुल आदि होते हैं, उसी प्रकार उस धर्मरूप फलका आनन्दरूप काम-भोग तो रस है और धन-सम्पदादि पदार्थोंका समुदाय उस फलके गुठली-वक्कुल आदि जानना चाहिए ॥३९॥

हे वत्स त्वञ्च जानासि पुरुषार्थचतुष्टये ।
धर्म एवाद्य आख्यातस्तं विनाऽन्ये न जातुचित् ॥४०॥

हे वत्स, यह तो तुम भी जानते हो कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंमे धर्म ही प्रधान है और इसीलिए वह सब पुरुषार्थोंके आदिमे कहा गया है। धर्मपुरुषार्थके विना शेष अन्य पुरुषार्थ कदाचित् भी सभव नही हैं, उनका होना तो उसीके अधीन है ॥४०॥

मा हिंस्यात्सर्वभूतानीत्यार्षं धर्मे प्रमाणयन् ।
सागसोऽप्यङ्गिनो रक्षेच्छक्त्या किन्नु निरागसः ॥४१॥

'किसी भी प्राणीकी हिंसा नही करे' इस आर्ष-वाक्यको धर्मके विषयमे प्रमाण मानते हुए अपराधी जीवोंकी भी यथाशक्ति रक्षा करना चाहिए। फिर जो निरपराध हैं; उनकी तो खास कर रक्षा करना ही चाहिए ॥४१॥

प्रशस्तं वचनं ब्रूयादद्दत्तं नाऽऽददीत च ।
परोत्कर्षासहिष्णुत्वं जह्याद्वाञ्छन्निजोन्नतिम् ॥४२॥

सदा उत्तम सत्य वचन बोले, दूसरेके मर्मच्छेदक और निन्दा-परक सत्य वचन भी न कहे, किसीकी विना दी हुई वस्तुको न लेवे और अपनी उन्नतिको चाहनेवाला पुरुष दूसरेका उत्कर्ष देखकर मनमे असहनशीलता (जलन-कुढ़न) का त्याग करे ॥४२॥

न क्रमेतेतरत्तल्पं सदा स्वीयञ्च पर्वणि ।
अनामिषाशनीभूयाद्वस्त्रपूतं पिबेज्जलम् ॥४३॥

दूसरेकी शय्याका अर्थात् पुरुष परस्त्रीके और स्त्री परपुरुषके सेवनका त्याग करे और पर्वके दिनोमे पुरुष अपनी स्त्रीका और स्त्री अपने पुरुषका सेवन न करे । सदा अनामिष-भोजी रहे, अर्थात् मासको कभी भी न खावे, किन्तु अन्न-भोजी और शाकाहारी रहे । एवं वस्त्रसे छने हुए जलको पीवें ॥४३॥

नमदाचरणं कृत्वा गृह्णीयाद् वृद्धशासनम् ।
परमप्यनुगृह्णीयादात्मने पक्षपातवान् ॥४४॥

मद-मोह (नशा) उत्पन्न करनेवाली मदिरा, भांग, तम्बाकू आदि नशीली वस्तुओंका सेवन न करे, वृद्ध जनोंकी आज्ञाको शिरोधार्य करे और अपनी भलाईको चाहते हुए दूसरोंकी भलाई का भी ध्यान रखे ॥४४॥

सर्वेषामुपकाराय मार्गः साधारणो ह्ययम् ।
युवाभ्यामुररीकार्यः परमार्थोपलिप्सया ॥४५॥

सर्व प्राणियोके उपकारके लिए यह सुख-दायक साधारण (सामान्य, सरल) धर्म-मार्ग कहा है, सो परमार्थकी इच्छासे तुम दोनोंको यह स्वीकार करना चाहिए ॥४५॥

श्रुत्वेति यतिराजस्य वचस्ताभ्यां नमस्कृतम् ।
तत्पादयोर्विनीताभ्यामोमुच्चारणपूर्वकम् ॥४६॥

इस प्रकार मुनिराजके वचन सुनकर विनम्रीभूत उन दोनों ने (सुदर्शन और मनोरमाने) अपनी स्वीकृति सूचक 'ओम्' पदका उच्चारण करते हुए उनके चरणोंमें नमस्कार किया ॥४६॥

अन्योन्यानुगुणैकमानसतया कृत्वाऽर्हदिज्याविधिं
पात्राणामुपतर्पणे प्रतिदिनं सत्पुण्यसम्पन्निधो।
पौलोमीशतयज्ञतुल्यकथनौ कालं तकौ निन्यतुः
प्रीत्यम्बेक्षुधनुर्धरौ स्वविभवस्फीत्या तिरश्चक्रतुः ॥४७॥

तदनन्तर वे मनोरमा और सुदर्शन आपसमें एक दूसरेके गुणोमें अनुरक्त चित्त रहते हुए प्रतिदिन अर्हन्त देवकी पूजा करके और पात्रोको नवधा भक्ति-पूर्वक दान देकरके उत्तम पुण्य के निधान बनकर इन्द्र और इन्द्राणीके समान आनन्दसे काल बिताने लगे, तथा अपने वैभव-ऐश्वर्यको समृद्धिसे रति और कामदेवका भी तिरस्कार करते हुए सासारिक भोगोपभोगोंका अनुभव करते हुए रहने लगे ॥४७॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम्।
तेन प्रोक्तसुदर्शनोदय इह व्यत्येति तुर्याख्यया।
सर्गः प्राग्-जनुरादिवर्णनकरः श्री श्रेष्ठिनोऽसौ स्यात् ॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरी देवीसे उत्पन्न हुए वाणीभूषण, बालब्रह्मचारो प० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर-विरचित इस सुदर्शनोदय काव्यमें सुदर्शनके पूर्वभवका वर्णन करनेवाला चौथा सर्ग समाप्त हुआ।



अथ पञ्चमः सर्गः

तत्र प्रभातकालीनो रागः—

अहो प्रभातो जातो भ्रातो भवभयहरजिनभास्करतः ।।स्थायी।।
पापप्राया निशा पलाया-मास शुभायाद्भूतलतः ।
नक्षत्रता दृष्टिपथमपि नाञ्चति सितद्युतेर्निर्गमनमतः ।।स्थायी।।
खगभावस्य च पुनः प्रचारो भवति दृष्टिपथमेष गतः ।
क्रियते विप्रवरैरिहादरो जडजातस्य समुत्सवतः ।। स्थायी ।।२।।
साऽमेरिकादिकस्य तु मलिना रुचिः सुमनसामस्ति यतः ।
भूराजी शान्तये वन्दितुं पादौ लगतु विरागभृतः ।। स्थायी ।।३।।

अहो भाई, देखो प्रभात काल हो गया है, जन्म-मरणरूप भव-भयके दूर करनेवाले श्रीजिनवर-भास्करके उदयसे पाप-बहुल रात्रि इस शुभ चेष्टावाले भारत-भूतलसे न जाने, किधरको भाग गई है। इस समय जैसे सित द्युति (श्वेत कान्तिवाले) चन्द्रके चले जानेसे, नक्षत्र गण भी दृष्टि-गोचर नहीं हो रहे हैं, वैसे ही श्वेत वर्णवाले अंग्रेजोंके चले जानेसे इस समय भारतवासियोंमे अक्षत्रियपना (कायरपना) भी दिखाई नहीं दे रहा है, किन्तु सभी लोग अब साहसी बनकर क्षत्रियपना दिखला रहे हैं इस प्रभात-

वेलामें खगगण (पक्षियोंका समूह) जैसे आकाशमें इधर-उधर सचार करता हुआ दिखाई दे रहा है, वैसे ही नभोयान (हवाई जहाज) भी नभस्तल पर विहार करते हुए दिखाई दे रहे हैं। तथा ब्राह्मण लोग स्नानादिसे निवृत्त होकर देव-पूजनके लिए जैसे जलजों (कमलो) को तोड़ रहे हैं, वैसे ही वे लोग अब हीन जातिके लोगोंका आदर-सत्कार भी उल्लासके साथ कर रहे हैं। और जैसे इस प्रभात-वेलामे गुलाब आदि सुन्दर पुष्पोंके ऊपर भौंरे आदिकी मलिन कान्ति दृष्टिगोचर हो रही है, वैसे ही अमेरिका आदि अनेक देशवासियोके हृदयोमे अब भी भारतके प्रति मलिन भावना दिखाई दे रही है। अतएव भूराजो (ग्रन्थकार) कहते है कि भूमण्डलकी सारी प्रजाकी शान्तिके लिए वीतराग श्रीजिनभगवान्के चरणोंकी इस समय वन्दना करनी चाहिए ॥१–३॥



आगच्छताऽऽगच्छत भो जिनार्चनार्थं याम।
जिनमूर्त्तिमात्मस्फूर्त्तिं स्वदृशा निभालयाम ॥ स्थायी ॥१॥
जलचन्दनतण्डुलपुष्पादिकमविकलतया नयाम।
जिनमभ्यर्च्य निजं जनुरेतत्साफल्यं प्रणयाम ॥स्थायी॥२॥
श्रीजिनगन्धोदकं समन्ताच्छिरसा स्वयं वहाम।
कलिमलधावनमतिशयपावनमन्यत्किं निगदाम ॥स्थायी॥३॥
उत्तमाङ्गमिति सुदेवपदयोः स्वस्य स्वयं दधाम।
उत्तमपदसम्प्राप्तिमितीदं स्फुटमेव प्रवदाम ॥स्थायी॥४॥

किमति भणित्वा सद्गुणगानं गुणवत्तया लसाम ।
भूरानन्दस्यात्र नियमतश्चैवं वयं भवाम ॥स्थायी॥५॥

आओ भाइयो आओ, हम लोग सब मिलकर श्रीजिनभगवान्की पूजनको चलें और हमारे कर्त्तव्यका स्मरण करानेवाली श्रीजिनमुद्राको अपने नयनोंसे अवलोकन करें। जल, चन्दन, तन्दुल, पुष्प आदि पूजन-सामग्रीको शोध-बानकर अपने साथ ले चलें और श्रीजिनदेवकी पूजन करके अपने इस मनुष्य जन्म को सफल बनावें। पूजनमें पूर्व जिनभगवान्का अभिषेक करके पाप-मल धोनेवाले और अतिशय पवित्र इस श्रीजिन गन्धोदकको हम सब स्वयं ही भक्ति-भावसे अपने शिर पर धारण करें। और अधिक हम क्या कहें, उत्तम शिव-पदकी प्राप्तिके लिए हम लोग अपने उत्तमाङ्ग (मस्तक) को श्रीजिनदेवके चरण-कमलोंमें रक्खें—उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम करें, यही हमारा निवेदन है। यथाशक्ति भगवान्के सद्-गुणोंका गान करके हम भी गुणीजनोंमें गणनाके योग्य बन जावें। भूरामलका यही कहना है, कि नियम-पूर्वक इस मार्गसे ही भूतलपर आनन्द-प्रसार करके हम लोग आनन्द प्राप्त कर सकते हैं ॥१-५॥



रसिकनामराग –

भो सखि जिनवरमुद्रां पश्य नय दृशमाशु सफलतां स्वस्य ॥स्थायी॥
राग-रोषरहिता सती सा छविरविरुद्धा यस्य,
तुला त्रिलोक्यां किं भवेदपि दृगपि न सुलभा तस्य ॥नय दृश.१॥

पुरा तु राज्यमितो भुवः पुनरञ्चति चैक्यं स्वस्य ।
योग-भोगयोरन्तरं खलु नाभा दृशा समस्य ॥नयदृशमाशु.॥२॥
कल इति कल एवाऽऽगतो वा पल्यङ्कासनमस्य ।
बलमखिलं निष्फलं च तच्चेद्‌ात्मबलं न हि यस्य ॥नय दृशमाशु.॥
यद्यसि शान्तिसमिच्छुकस्त्वं सम्भज सान्निधिमस्य ।
भूरामादिभ्यस्तिलाञ्जलिमर्पय नमोदिस्य ॥नय दृशमाशु.॥४॥

हे मित्र, जिनदेवकी वीतराग मुद्राका दर्शन करो और अपने नयनोंको सफल करो। देखो, राग-द्वेषसे रहित यह वीतराग मुद्रा कितनी शान्त दिखाई दे रही है कि जिसकी तुलना इस भूतल पर अन्यत्र सुलभ नहीं है। हमारा यह सौभाग्य है कि हमें ऐसी अत्यन्त दुर्लभ प्रशान्त मुद्राके दर्शन सुलभ हो रहे हैं। पहले तो जिस जिनराजने इस समस्त भूमण्डलका राज्य-प्रशासन किया और यहांकी जनताको त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, कामपुरुषार्थ) के सेवनरूप भोगमार्गको बतलाया। तदनन्तर भोगोंसे उदास होकर और राज्य-पाटका त्याग कर पद्मासन-संस्थित हो नासा-दृष्टि रखकर अपनी आत्मामें तल्लीनताको प्राप्त होकर योग-मार्ग को बतलाया। इस प्रकार यह वीतराग-मुद्रा भोग और योग के अन्तरको स्पष्टरूपसे प्रकट कर रही है। जिनभगवान्‌की यह मूर्त्ति जो पद्मासनसे अवस्थित है और हाथ पर हाथ रखकर निश्चल विराजमान है, सो संसारी जनोंको यह बतला रही है कि आत्म-बलके आगे अन्य सब बल निष्फल हैं। हे भाई, यदि तुम शान्ति चाहते हो, तो इन राज्य-पाट, स्त्री-पुत्रादिकसे दूर

होकर और सांसारिक कार्योंको तिलाञ्जलि देकर इसके समीप आओ और एकाग्र चित्त होकरके इसकी सेवा-उपासना कर अपना जीवन सफल करो ॥१-४॥



काफी होलिकाराग :-

कदा समयः स समायादिह जिनपूजायाः ॥स्थायी॥
कञ्चनकलशे निर्मलजलमधिकृत्य मञ्जु गङ्गायाः ।
धाराधारां विसर्जनन तु पदयोर्जिनमुद्रायाः
लयोऽस्तु कलङ्ककलायाः ॥स्थायी॥१॥
मलयागिरेश्चन्दनमथ नन्दनमपि कृत्वा रम्भायाः ।
केशरेण सार्धं विसृजेयं पदयोर्जिनमुद्रायाः,
न सन्तु कुतश्चापायाः ॥स्थायी॥२॥
मुक्तोपमतन्दुलदलमुज्ज्वलमादाय श्रद्धायाः ।
सद्भावेन च पुञ्जं दत्वाऽप्यग्रे जिनमुद्रायाः,
पतिः स्यां स्वर्गरमायाः ॥स्थायी॥३॥
कमलानि च कुन्दस्य च जातेः पुष्पाणि च चम्पायाः ।
अर्पयामि निर्दर्पतयाऽहं पदयोर्जिनमुद्रायाः,
यतः सौभाग्यं भायात् ॥स्थायी॥४॥
षड्-रसमयनानाव्यञ्जनदलमविकलमपि च सुधायाः,
सम्बलमादायार्पयेयमहमग्रे जिनमुद्रायाः,
वशोऽपि स्यां न क्षुधायाः ॥स्थायी॥५॥

शुद्धसर्पिषः कर्पूरस्याप्युत माणिक्यकलायाः ।
प्रज्वालयेयमिह दीपकमहमग्रे जिनमुद्रायाः,
हृतिः स्याच्चित्तनिशायाः ॥स्थायी॥६॥

कृष्णागुरुचन्दनकर्पूरादिकमय धूपदशायाः ।
ज्वालनेन कृत्वा सुवासनामग्रे जिनमुद्रायाः,
हरेयमदृष्टच्छायाम् ॥स्थायी॥७॥

आम्रं नारङ्गं पनसं वा फलमथवा रम्भायाः ।
समर्पयेयमुदारभावतः पुरतो जिनमुद्रायाः,
हृतिः स्यादसफलतायाः ॥स्थायी॥८॥

जलचन्दनतन्दुलकुसुमस्रक् चरूणि दीपशिखायाः ।
तां च धूपमथ फलमपि धृत्वा पुरतो जिनमुद्रायाः,
स्थलं स्यामनर्घतायाः ॥स्थायी॥९॥

एवंविधपूजाविधानतो जिननाथप्रतिमायाः ।
भातु जनः खलु सकलोत्सवभूरासाद्याकुलतायाः,
विनाशमनेकविधायाः ॥स्थायी॥१०॥

श्री जिनभगवान्की पूजन करनेका कब वह सुअवसर मुझे प्राप्त हो, जबकि मैं गंगाके निर्मल जलको सुवर्ण-घटमें भर कर लाऊँ और जिनमुद्राके चरणोंमे विसर्जन कर अपने कर्म-कलंकको बहाऊ ? कब मैं मलयागिर चन्दन लाकर और कर्पूर-केशरके साथ घिसकर उसे जिनमुद्राके चरणोंमें विसर्जन करूं, ताकि मेरे सर्व विघ्न विनष्ट हो जायें। कब मैं मोतियोके समान

उज्ज्वल तन्दुलोंको लेकर श्रद्धापूर्वक भक्तिभावसे जिनमुद्राके आगे पुञ्ज देकर स्वर्ग-लक्ष्मीका पति बनूं ? कब मैं कमल, कुन्द, चमेली, चम्पा आदिके सुगन्धित पुष्प लाकर निरहंकारी बन विनयभावके साथ जिनमुद्राके चरणोंमें अर्पण करूं और सदाके लिए सौभाग्यशाली बनूं ? कब मैं षट्-रसमयी नाना प्रकारके व्यञ्जन और अमृतपिण्डको लेकर जिनमुद्राके आगे अर्पण करूं, जिससे कि मैं भूखके वशमें न रहूँ। कब मैं शुद्ध घृत, कर्पूर या रत्नमय दीपक लाकर जिनमुद्राके आगे जलाऊं, जिससे कि मेरे मनका सब अन्धकार विनष्ट हो और ज्ञानका प्रकाश हो। कब मैं कृष्णागुरु, चन्दन, कर्पूरादिक मयी दशाङ्गी धूप जलाकर जिनमुद्राके आगे सुवासना करूं और अदृष्टकी छायाको-कर्मके प्रभावको-दूर करूं। कब मैं आम, नारंगी, पनस, केला आदि उत्तम फल उदारभावसे जिनमुद्राके आगे समर्पण करूं, जिससे कि मेरी असफलताका विनाश हो और प्रत्येक कार्यमें सफलता प्राप्त हो। कब मैं जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प-माल, नैवेद्य, दीप, धूप और फलको एकत्रित कर, उनका अर्घ बनाकर जिनमुद्राके आगे अर्पण कर अनर्घ-पद (मोक्ष) को प्राप्त करूं ? भूरामल कहते हैं कि इस प्रकार श्रीजिननाथकी प्रतिमाके पूजा-विधानसे मनुष्य नाना प्रकारकी आकुलता-व्याकुलताओंके विनाशको प्राप्त होकर सर्व प्रकारके उत्सवका स्थान बन जाता है ॥१-१०॥



तव देवांघ्रिसेवां सदा यामि त्विति कर्तव्यता भव्यताकामी ॥स्थायी॥
अघहरणी सुखपूरणी वृत्तिस्तव सज्ज्ञान !
शृणु विनतिं मम दुःखिनः श्रीजिनकृपानिधान ॥
कुरु तृप्तिं प्रक्लृप्तिं हर स्वामिन्! तव देवांघ्रिसेवां सदा यामि ॥१॥

हे देव, मैं सदा ही तुम्हारे चरणोंकी सेवा करता रहूं और अपने कर्त्तव्यका पालन कर भव्यपना स्वीकार करूं, ऐसा चाहता हू। हे उत्तम ज्ञानके भण्डार श्रीभगवान्, आपकी प्रवृत्ति सहज ही भक्तोंके दुःखोंको दूर करनेवाली और सुखको देनेवाली है। इसलिए हे कृपा-निधान श्रीजिनदेव, मुझ दुखियाकी भी विनती सुनो और हे स्वामिन्, मेरी जन्म-मरणकी बाधाको हर कर मुझे भी सुखी करो ॥१॥

अभिलषितं वरमाप्तवान् लोकः किन्न विमान ।
वेलेयं हतभागिनो मम भो गुणसन्धान ॥
किमिदानीं न दानिन् रसं यामि । तव देवांघ्रिसेवां० ॥२॥

हे विमान, मान-मायादिसे रहित भगवन्, आपकी सेवा-भक्ति करके क्या अनेक लोगोने अभिलषित वर नही पालिया है ? अर्थात् पाया ही है। अब यह मुझ हतभागीकी वारी है, सो हे गुणोंके भण्डार, हे महादानके देनेवाले, क्या अब मैं अभीष्ट वरको प्राप्त नही करूंगा ? ॥२॥

भुवि देवा बहुशः स्तुता भो सज्ज्योतिर्धाम ।
रविरिव नक्षत्रेषु तु त्वं निष्काम ललाम ॥

न तु इतरस्तरामन्तरा यामि । तव देवांघ्रिसेवां० ॥३॥

हे केवलज्ञानरूप परमज्योतिके धाम, मैंने इस भूमण्डल पर अनेक देवोको देखा है और बहुत वार उनकी सेवा-भक्ति और स्तुति भी की है। परन्तु जैसी निस्पृह परोपकार वृत्ति आपकी है, वह उनमे नही पाई है। अन्य तारा-समान देवोमे आप सूर्य-समान महान् तेजस्वी देवाधिदेव हैं और निष्काम होने पर भी ससारी जीवोके अन्तस्तमके अपहरण करनेवाले हैं, अतः आपके समान अन्य कोई नही है ॥३॥

सर्वे ते निजशंसिनः सम्प्रति भान्ति जिनेश ।
स्वावलम्बनं ह्यादिशंस्त्वं शान्तये सुवेश ॥
तव शिक्षा समीक्षा-परा नामिन् । तव देवांघ्रिसेवां० ॥४॥

हे जिनेश, वे सब अन्य देव अपनी-अपनी प्रशसा करनेवाले हैं, अतएव मुझे वे उत्तम प्रतीत नही होते हैं। किन्तु स्वावलम्बन का उपदेश देनेवाले हे सहज जात स्वाभाविक सुन्दर वेशके धारक जिनेन्द्र, आपही शान्तिके देनेवाले हो और हे लोकमान्य, आपकी शिक्षा परीक्षा-प्रधान है, आपका उपदेश है कि किसीके कथनको विना सोचे-समझे मत मानो, किन्तु सोच समझकर परीक्षा करके अंगीकार करो ॥४॥



श्यामकल्याणराग :—

जिनप परियामो मोदं तव मुखभासा ॥स्थायी॥
खिन्ना यदिव सहजकर्द्धिधिना, निःस्वजनी निधिना सा ॥१॥

सुरसनमशनं लब्ध्वा रुचिरं सुचिरक्षुधितजनाशा ॥२॥
केकिकुलं तु लपत्यतिमधुरं जलदस्तनितसकाशात् ॥३॥
किञ्च चकोरदृशोः शान्तिमयी प्रभवति चन्द्रकला सा ॥४॥

हे जिनदेव, आपकी मुख-कान्तिके देखनेसे हम इस प्रकार प्रमोदको प्राप्त होते हैं, जैसेकि जन्म-जात दरिद्रतासे पीड़ित निर्धन पुरुषकी स्त्री अकस्मात् प्राप्त हुए धनके भण्डारको देखकर प्रसन्न होती है, अथवा जैसे चिरकालसे भूखा मनुष्य अच्छे रसीले सुन्दर भोजनको पाकर प्रसन्न होता है, अथवा जैसे सजल-मेघ-गर्जनसे मयूरगण हर्षित हो नाचने और मीठी बोली बोलने लगते हैं। जैसे चन्द्रकी चन्द्रिका चकोर पक्षीके नेत्रोंको शान्ति-दायिनी होती है, उसी प्रकार आपके दर्शनोंसे हमें भी परम शान्ति प्राप्त हो रही है ॥१-४॥



अयि जिनप, तेच्छविरविकलभावा ॥स्थायी॥
पक्षकक्षमिति, कस्य दहन्ति श्रीवर, न मदनदावाः ॥१॥
कस्य करेऽमिररेरिति सम्प्रति, अमर-प्रवर, भिया वा ॥२॥
वाञ्छति वमनं स च पुनरशनं कस्य न धनतृष्णा वा ॥३॥
भूरागस्य न वा रोषस्य न, शान्तिमयी सहजा वा ॥४॥

हे जिनवर, तुम्हारी छवि अविकल (निर्दोष) भावोंको धारण करनेवाली है। हे श्रीवर, इस संसारमें ऐसा कौन प्राणी है, जिसके पक्ष-कक्षको (समीपवर्ती वनखण्डको) कामरूप दावाग्निने

भस्म न कर दिया हो ! केवल एक आप ही ऐसे दृष्टिगोचर हो रहे हैं जो कि उससे बचे है, या यों कहना चाहिए कि आपने जगत्को भस्म करनेवाले उस कामको ही भस्म कर दिया है। हे देव शिरोमणि, हम देख रहे हैं कि शत्रुओंके भयसे किसी देवके हाथमे खड्ग है, किसीके हाथमे धनुष-बाण और किसीके हाथमे गदा। कोई शीतादिसे पीड़ित होकर वस्त्र चाहता है, कोई भूखसे पीड़ित होकर भोजन चाहता है और कोई दरिद्रतासे पीडित होकर धनकी तृष्णामे पडा हुआ है। किन्तु हे भगवन्, एक आपकी मूर्ति ही ऐसी दिखाई दे रही है, जिसे न किसीका भय है, न भूख है, न शीतादिकी पीडा है और न धनादिक की तृष्णा ही है। आपकी यह सहज शान्तिमयी वीतराग मुद्रा है, जिसमे न रागका लेश है और न रोष (द्वेष) का ही लेश है। ऐसी यह शान्तमुद्रा मुझे परम शान्ति दे रही है ॥१-४॥



छन्दोऽभिवश्चालः—

छविरविकलरूपा पायात् साऽऽर्हती नः स्विदपायात् ॥स्थायी॥
वसनाभरणैरादरणीयाः सन्तु मूर्तयः किन्तु न हीयान्।
तासु गुणः सुगुणायाश्छविरविकलरूपा पायात् ॥१॥

अर्हन्त भगवान्की यह निर्दोष मुद्रा पापोंसे हमारी रक्षा करे। इस भूमण्डल पर जितनी भी देव-मूर्त्तियां दृष्टिगोचर होती है, वे सब वस्त्र और आभूषणोंसे आभूषित हैं — बनावटी वेष

को धारण करती हैं—अतः उनमें सहज स्वाभाविकरूप गुण-सौन्दर्य नही हैं, निर्विकारिता नही है। वह निर्विकारता और सहज यथा जात रूपता केवल एक अर्हन्तदेवकी मुद्रामे ही है, अतः वह हम लोगोकी रक्षा करे ॥१॥

धरा तु धरणीभूषणताया नैव जात्वपि स दूषणतायाः।
सहजमञ्जुलप्राया छविरविकलरूपा पायात् ॥२॥

अर्हन्तदेवकी यह मुद्रा धरणीतलपर आभूषणताकी धरा (भूमि) है, इसमे दूषणताका कदाचित् भी लेश नहीं है, यह सहज सुन्दर स्वभाववाली है और निर्दोष छविको धारण करने वाली है, वह हम लोगोकी रक्षा करे ॥२॥

यत्र वञ्चना भवेद्रमायाः किङ्करिणी सा जगतो माया।
एमि तमां सदुपायात् छविरविकलरूपा पायात् ॥३॥

जिस निर्दोष मुद्राके अवलोकन करने पर स्वर्गकी लक्ष्मी भी वचनाको प्राप्त होती है अर्थात् ठगाई जाती है और जगत्की सब माया जिसकी किंकरणी (दासी) बन जाती है; मै ऐसी सर्वोत्तम निर्दोष मुद्राकी शरणको प्राप्त होता हूं। वह हम लोगों की रक्षा करे ॥३॥

यत्र मनाङ् न कलाऽऽकुलताया विकसति किन्तु कला कुलतायाः।
भूगानन्दस्याऽऽयाज्छविरविकलरूपा पायात् ॥४॥

जिस मुद्राके दर्शन कर लेने पर दर्शकके हृदयमें आकुलता का तो नाम भो नही रहता, प्रत्युत कुलीनता प्रकट होती है

और दर्शक स्वयं अपनी शुभ चेष्टाके द्वारा आनन्दका स्थान बन जाता है, ऐसी यह निर्दोष वीतरागमुद्रा पापोंसे हमारी रक्षा करे ॥४॥



अभ्यर्च्याऽर्हन्तमायान्तं विलोक्य कपिलाङ्गना ।
सुदर्शनमभूत्कर्तुमसुदर्शनमादरात् ॥१॥

इस प्रकार श्रीअर्हन्तदेवकी पूजन करके घरको आते हुए सुदर्शनको देखकर कपिल ब्राह्मणकी स्त्री उस पर मोहित होगई और उसे अपने प्राणोंका आधार बनानेके लिए आदर-पूर्वक उद्यत हुई ॥१॥

मरुत्सखसखम्मुं मत्वा तस्या मदनवन्मनः ।
नातः स्थातुं शशाकेदं मनागप्युचितस्थले ॥२॥

उस कपिला ब्राह्मणीका मोम-सदृश मृदुल मन अग्नि समान तेजस्वी सुदर्शनको देखकर पिघल गया, अत. वह उचित स्थल पर रहनेके लिए जरा भी समर्थ न रहा । भावार्थ – उसका मन उसके काबूमें न रहा ॥२॥

दृष्ट्वैनमधुनाऽऽदर्शं कपिला कपिलक्षणा ।
चर्मणैवाऽऽननात्कर्तुमिति चापलतामभात् ॥३॥

आदर्श (दर्पण) के समान आदर्श रूपवाले उस सुदर्शनको देखकर कपि (बन्दर) जैसे लक्षणवाली अर्थात् चंचल स्वभाव

वाली वह कपिला ब्राह्मणी एक क्षणमें ही उसे अपने अधीन करनेके लिए चापलता (धनुर्लता) के समान चपलताको धारण करती हुई। भावार्थ – जैसे कोई मनुष्य किसीको अपने वशमें करनेके लिए धनुष लेकर उद्यत होता है, उसी प्रकार वह कपिला भी सुदर्शनको अपने वशमे करनेके लिए उद्यत हुई ॥३॥

मनो मे भुवि हरन्तं विहरन्तममुं सखि।
बध्नामि भुजपाशेन जपाशेनमिहानय ॥४॥

वह कपिला अपनी दासीसे बोली – हे सखि, राजमार्ग पर विहार करनेवाले इस पुरुषने मेरे मनको हर लिया है, अतः जपाकुसुमके समान कान्तिवाले इस धूर्तको यहां पर ला, मैं इसे अपने भुज-पाशसे बांधूंगी ॥४॥

स्वीकुर्वन् परिणामेनाऽयमतीव भयाढ्यताम्।
उच्चैस्स्तनाद्रिसंगुप्तो मत्तो भवितुमर्हति ॥५॥

यह अपने अनुपम शारीरिक सौन्दर्यसे अतीव भयाढ्यताको स्वीकार कर रहा है, अर्थात् अत्यन्त भय-भीत है, अतएव यह मेरे द्वारा उच्चस्तनरूप पर्वतसे सुरक्षित होनेके योग्य है ॥५॥

भावार्थ – इस श्लोकमें 'भयाढ्य' पद दो अर्थवाला है। 'भा' का अर्थ आभा या कान्ति है, उसका तृतीया विभक्तिके एक वचनमें 'भया' रूप बनता है, उससे आढ्य अर्थात् युक्त ऐसा एक अर्थ निकलता है और दूसरा भयसे आढ्य अर्थात् 'भय-भीत'

ऐसा दूसरा अर्थ निकलता है। जो भयसे संयुक्त होता है, वह जैसे पर्वतके दुर्गम उच्च स्थलोमे संरक्षणीय होता है, वैसे ही यह सुदर्शन भी भनेयाढ्य (कान्ति युक्ति) है, अतः मेरे दुर्गम उच्च स्तनोंसे संरक्षणीय है अर्थात् मेरे द्वारा वक्षःस्थलसे आलिगन करने योग्य है।

इत्युक्ताऽथ गता चेटी श्रेष्ठिनः सन्निधिं पुनः।
छद्मना निजगादेदं वचनं च तदग्रतः ॥६॥

इस प्रकार कपिलाके द्वारा कही गई वह दासी सुदर्शन सेठ के पास गई और उनके आगे छल-पूर्वक इस प्रकार बोली ॥६॥

सखा तेऽप्यभवत् पश्य नरोत्तम गदान्वितः।
केवलं त्वमसि श्रीमान् श्रीविहीनः स साम्प्रतम् ॥७॥

हे पुरुषोत्तम, देखो तुम्हारा सखा गदान्वित होकर श्रीविहीन है और तुम केवल निगद होकर इस समय श्रीमान् हो रहे हो ॥७॥

भावार्थ – इस श्लोकमें श्लेष-पूर्वक दो अर्थ व्यक्त किये गये हैं। नरोत्तम या पुरुषोत्तम नाम श्रीकृष्णका है वे श्री (लक्ष्मी) के स्वामी भी हैं और गदा नामक आयुधके धारक भी हैं। इस बातको ध्यानमें रखकर वह दासो सुदर्शनसे कह रही है कि आप श्रीमान् होते हुए भी गद (रोग) से युक्त नहीं है, नीरोग हैं और आपका मित्र श्रीमान् नहीं होते हुए भी गदसे

युक्त अर्थात् रोगी है। होना तो यह चाहिए कि जो श्रीमान् हो, वही गदान्वित हो, पर यहाँ तो उलटा ही हो रहा है कि जो श्रीमान् है, वह गदान्वित नहीं है और जो गदान्वित है – वह श्रीमान् नही। सो यह पुरुषोत्तमको श्रीमत्ता और गदान्वितता अलग-अलग क्यों दीख रही है। इस प्रकार दासीने सुदर्शनसे व्यङ्ग्यमें कहा।

अवागमिष्यमेवं चेदागमिष्यं न किं स्वयम्।
मया नावगतं भद्रे सुहृद्यापतितं गदम् ॥८॥

दासीकी बात सुनकर सुदर्शन बोला – हे भद्रे, मुझे कुछ भी ज्ञात नही कि मेरे मित्र पर रोगने आक्रमण किया है? अन्यथा यह क्या संभव था कि मुझे मित्रके रोगी होनेका पता लग जाता और फिरमैं स्वयं उन्हें देखनेके लिए न आता ॥८॥

उक्तवत्येवमेतस्मिन्नन्तरुल्लासशालिनी।
दधानाऽऽस्ये तु वैलक्ष्यं पुनरप्येवमाह सा ॥९॥

सुदर्शनके इस प्रकार कहने पर अन्तरंगमें अत्यन्त उल्लास को प्राप्त हुई भी वह दासी मुखमें विरूपताको धारण कर पुनः इस प्रकार कहने लगी ॥९॥

नृराडास्तां विलम्बेन भुवि लम्बेन कर्मणा।
स्वागच्छ गच्छ प्रासादपरिसुप्तमवेहि तम् ॥१०॥

हे पुरुषराज, अब अधिक विलम्ब न करें, दुनियादारीके और सब काम छोड़कर पहले अपने मित्रसे मिलें। आइये, आपका

स्वागत है, ऐसा कह कर वह दासी सुदर्शनको कपिलके घर पर लेगई और बोली – आइये, जो प्रासादके ऊपर सो रहे हैं, उन्हें हीं अपना मित्र समझिये ॥१०॥

भास्वानासनमारोहोद्योदयाद्रिमिवोन्नतम् ।
तत्र तल्पे नभःकल्पे घनाच्छादनमन्तरा ॥११॥

क्षणादुदीरयन्नेवं करव्यापारमादरात् ।
विषमायां च वेलायां प्रावृषीव चकार सः ॥१२॥ (युग्मम्)

सुदर्शन सेठ ऊपर गया और शय्याके समीप उदयाचलके समान ऊंचे आसन पर सूर्यके समान बैठकर सघन चादरसे आच्छादित उस नभस्तल-तुल्य शय्यापर आदर-पूर्वक यह कहते हुए अपना कर-व्यापार किया, अर्थात् हाथ बढ़ाया – जैसे कि वर्षा ऋतुको जल बरसती विषम वेलामें सूर्य अपने कर-व्यापार को करता है अर्थात् किरणोंको फैलाता है ॥११-१२॥

भो भो मे मानसप्रीति-कारिण्यां दुस्सहोऽप्यहो ।
शरदीव तनौ तेऽयं सन्तापः कथमागतः ॥१३॥

हे मित्र, मान-सरोवर आदि जलाशयोंके जलोंको स्वच्छ बना देनेवाली शरद् ऋतुमें जैसे दुःसह सन्ताप (घाम) हो जाता है, वैसे ही हे भाई, मेरे मनको प्रसन्न करनेवाली तुम्हारी इस कोमल देहलतामें यह दुःसह सन्ताप (ज्वर) कहांसे कैसे आगया ? मुझे इसका बहुत आश्चर्य है ॥१३॥

तदा प्रत्युत्तरं दातुं मृदङ्गवचसः स्थले ।
वीणायाः सरसा वाणी सद्यः प्रादुरभूदियम् ॥१४॥

सुदर्शनके उक्त प्रश्नका उत्तर देनेके लिए मृदङ्गके समान गम्भीर वचनोके स्थान पर वीणाके समान यह सरस वाणी शीघ्र प्रकट हुई । भावार्थ – मर्दानी बोलीके बदले जनानी बोली मे उत्तर मिला ॥१४॥

अहो विधायिनः किन्न महोदय करेण ते ।
विकाममेति मेऽतीव पद्मिन्याः कुचकोरकः ॥१५॥

अहो महोदय, सूर्य जैसे तेजस्वी और लोकोपकार करने वाले तुम्हारे करके स्पर्शसे मुझ कमलिनीका कुच-कोरक अतीव विकासको प्राप्त हो रहा है । भावार्थ – वैसे तो मैं बहुत सन्तप्त थी, पर अब तुम्हारे हाथका स्पर्श होनेसे मेरा वक्षःस्थल शान्तिका अनुभव कर रहा है ॥१५॥

सा रोमाञ्चनतस्त्वं मो मारो भवितुमर्हसि ।
जगत्यस्मिन्नहं मान्या लतिका तरुणायते ॥१६॥

हे पुरुषोत्तम, आप इस जगत्में सघन छायादार वृक्षके समान तरुणावस्थाको प्राप्त हो रहे हैं और मैं आपके द्वारा सम्मान्य (स्वीकार करने योग्य) नवीन लताके समान आश्रय पानेके योग्य हूं । हे महाभाग, आपके कर-स्पर्शसे रोमाञ्चको प्राप्त हुई मैं रतिके तुल्य हूं । अतः आप सारभूत कामदेव होनेके योग्य हैं ॥१६॥

वरं त्वत्तः करं प्राप्याप्यकमस्त्वधुना कुतः ।
कृतज्ञाऽहमतो भूमौ देवराज नुरस्मि ते ॥१७॥

हे देवराज, तुम्हारे कररूप वरको पाकर मैं भी कलको अर्थात् शान्तिको प्राप्त हो रही हूं. अब मुझे कष्ट कहासे हो सकता है ? भूमि पर इन्द्रतुल्य हे ऐश्वर्यशालिन्, मैं इस कृपाके लिए आपकी बहुत कृतज्ञ हूँ । (ऐसा कहकर उसने सुदर्शनका हाथ पकड़ लिया ॥१७॥

इत्येवं वचसा जातस्तमसेवावृतो विधुः ।
वैवर्ण्येनान्विततनुः किञ्चत्कालं सुदर्शनः ॥१८॥

कपिलाके मुखसे निकले हुए इस प्रकारके वचन सुनकर सुदर्शन कुछ कालके लिए किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गया और उसका सारा शरीर विरूपताको प्राप्त हो गया, जैसे कि राहुसे ग्रसित चन्द्रमा हतप्रभ हो जाता है ॥१८॥

हे सुबुद्धे न नाऽहं तु करत्राणां विनामकाक् ।
त्वदादेशविधिं कर्तुं कातरोऽस्मीति वस्तुतः ॥१९॥

कुछ देरमें स्वस्थ होकर सुदर्शनने कहा – हे सुबुद्धिशालोनि, मैं पुरुष नहीं हूं, किन्तु पुरुषार्थ-हीन (नपुंसक) हूं । सो स्त्रियोंके लिए किसी भी कामका नहीं हूं । इसलिए वास्तवमें तुम्हारी आज्ञाका पालन करनेमें असमर्थ हू ॥१९॥

एवं सुमन्त्रवचसा भुवि भोगवत्या
दर्पोऽपसर्पणमगात्स्वदनन्यगत्या ।

हस्तं व्यमुञ्चदति मन्दतयाऽपि मत्या
यद्वोदयाद्वद्दसुदर्शनपुण्यतत्याः ॥२०॥

सुदर्शन सेठके इस प्रकारके सुमन्त्ररूप वचनसे ससारमें विषयरूप विषधर भोगों (सर्पों) को ही भला माननेवाली उस भामवती कपिलारूपणी सर्पिणीका विषरूप दर्प एक बम दूर हो गया और अन्य कोई उपाय न देखकर मन्दमतिने सुदर्शनका हाथ छोड़ दिया। अथवा यह कहना चाहिए कि सुदर्शनकी पुण्य-परम्पराके उदयसे कपिलाने उसका हाथ छोड़ दिया। (और सुदर्शन तत्काल अपने घरको चल दिया) ॥२०॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम्।
तेन प्रोक्तसुदर्शनोदय इयान् सर्गो गतः पञ्चमो
विप्राण्या कृतवञ्चनाविजयवाक् श्रीश्रेष्ठिनः सत्तमः ॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरीदेवीसे उत्पन्न हुए, बालब्रह्मचारी प० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर-विरचित इस सुदर्शनोदय काव्यमें कपिला ब्राह्मणीके द्वारा किये गये छलकपटका वर्णन करनेवाला पांचवां सर्ग समाप्त हुआ।



अथ षष्ठः सर्गः

सारङ्गनामरागः—

स वसन्त आगतो हे सन्तः, स वसन्तः ॥स्थायी॥
परपुष्टा विप्रवराः सन्तः सन्ति झपदि सूक्तमुदन्तः ॥१॥
लताजातिरुपयाति प्रसरं कौतुकसान्मधुरवरं तत् ॥२॥
लसति सुमनसामेष समूहः किमुत न सखि विस्फुरदन्तः ॥३॥
भूरानन्दमर्यायं सकला प्रचरति शान्तेः प्रभवं तत् ॥४॥

हे सज्जनो, आज वह वसन्त ऋतु आगई है, जो कि सब जीवोंका मन मोहित करती है, इस समय वि अर्थात् विहगो (पक्षियों) मे प्रवर (सर्वश्रेष्ठ) पर-पुष्ट (काकसे पोषित) कोकिल पक्षी अपनी 'कुहू-कुहू' इस प्रकारको उत्तम बोलीको बोलते हुए जैसे सर्व ओर दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उसी प्रकार पर-पुष्ट (क्षत्रियादि द्वारा दिये गये दानसे पुष्ट होनेवाले) विप्र-वर (श्रेष्ठ ब्राह्मण) भी चारो ओर उत्तम वेद-सूक्त गायन करते हुए दिखाई दे रहे हैं। आज कुन्द, चम्पा, चमेली आदि अनेक जातिकी लताएँ सुन्दर मधुर पुष्पोंको धारण कर सर्व ओर फैलती हुई जैसे वसन्त-उत्सव मना रही हैं, वैसे ही मनुष्योकी अनेक जातियां भी अपनी-अपनी उन्नतिके मधुर कौतुकसे परिपूर्ण होकर

सर्व ओर प्रसारको प्राप्त हो रही हैं। आज जैसे भीतरसे विकसित सुमनो (पुष्पों) का समूह चारो ओर दिख रहा है, वैसे ही अन्तरगमें सबका भला चाहनेवाले सुमनसों (उत्तम मनवाले पुरुषों) का समुदाय भी सर्व ओर हे मित्र, क्या दिखाई नही दे रहा है ? अपितु दिखाई दे ही रहा है। आज शान्तिके देनेवाले अहिंसामय धर्मका प्रचार करती हुई यह समस्त वसुधा आनन्दमयी हो रही है ॥१-४॥



स वसन्तः स्वीक्रियतां सन्तः सद्वसन्तः ॥स्थायी॥
सहजा स्फुरति यतः सुमनस्ता जड़तायाश्च भवत्यन्तः ॥१॥
वसनेभ्यश्च तिलाञ्जलिमुक्त्वाऽऽह्वयति तु दैगम्बर्यन्तत् ॥२॥
सहकारतरोः सहसा गन्धः प्रसरति किमहि जगदन्तः ॥३॥
परमारामे पिकरवश्रिया भूरानन्दस्य भवन्तः ॥४॥

हे सज्जनो, इस आये हुए वसन्तका स्वागत करो, जिसमें कि जाड़ेके समान जड़ता (मूर्खता) का अन्त हो जाता है और सुमनों (पुष्पो) की सुमनस्ता (विकास-वृत्ति) के समान उत्तम हृदयवाले पुरुषोंके सहृदयता सहजमे ही प्रकट होती है। इस ऋतुमें शीत न रहनेसे शरीर पर पहिने हुए वस्त्रोंको तिलाञ्जलि देकर लोग दिगम्बरताका आह्वानन करते हैं। इस समय जैसे सहकार (आम्र) वृक्षकी मञ्जुल मौलि-सुगन्धि सर्व ओर फैल रही है, उसी प्रकार सारे जगत्के भीतर सहकारिता (सहयोग) की भावना भी क्या नहीं फैल रही है ? अर्थात् आज सब लोग

परस्पर सहयोग करनेका विचार करने लगे हैं। आज जैसे उत्तम उद्यानोंमें कोकिलोंकी कूकसे समस्त भूमण्डल आनन्दमय हो रहा है, उसी प्रकार आप लोग भी इस वसन्तकालमें परम आत्मारामकी अनुभूति-द्वारा आनन्दके भाजन बनो ॥१-४॥



अहो विद्यालता सज्जनैः सम्मता ॥स्थायी॥
कौतुकपरिपूर्णतया याऽसौ षट्पदमतगुञ्जाभिमता ॥१॥
चतुर्दशात्मतया विस्तरिणी यस्यां मृदुतमपल्लवता ॥२॥
समुदितनेत्रवतीति प्रभवति गुरुपादपसद्भावधृता ॥३॥
भूराख्याता फलवत्ताया विलसति सद्विनयाभिसृता ॥४॥

अहो, यह परम हर्षकी बात है कि विद्वानोंने विद्याको लताके समान स्वीकार किया है। जैसे लता अनेक कौतुकों (पुष्पों) से परिपूर्ण रहती है, उसी प्रकार विद्या भी अनेक प्रकारके कौतूहलोंसे भरी होती है। जैसे लता षट्पदों (भ्रमरों) से गुञ्जायमान रहती है, उसी प्रकार यह विद्या भी षड्दर्शन-रूप मत-मतान्तरोसे गुञ्जित रहती है। जैसे लता चारों दिशाओं में विस्तारको प्राप्त होती है अर्थात् सर्व ओर फैलती है, उसी प्रकार यह विद्या भी चौदह भेदरूपसे विस्तारको प्राप्त है। जैसे लता अत्यन्त मृदुल पल्लवोंको धारण करती है, उसी प्रकार यह विद्या भी अत्यन्त कोमल सरस पदोंको धारण करती है। जैसे लता एक समूहको प्राप्त नेत्र (जड़) वाली होती है और किसी गुरु (विशाल) पादप (वृक्ष) की सद्भावनाको पाकर उससे

लिपटी रहती है, उसी प्रकार विद्या भी प्रमुदित नेत्रवाले पुरुषों से ही पढ़ी जाती है और गुरु-चरणोंके प्रसादसे प्राप्त होती है। जैसे लता उत्तम फलवाली होती है, उसी प्रकार विद्या भी उत्तम मनोवांछित फलोंको देती है। तथा जैसे लता उत्तम पक्षियोंसे सेवित रहती है, उसी प्रकार यह विद्या भी उत्तम विनयशाली शिष्योंसे सेवित रहती है ॥१-४॥



श्रुतारामे तु तारा मेऽप्यतितरां मेतु सप्रीति ॥स्थायी॥
मृदुलपरिणामभृच्छायस्तरुस्तत्त्वार्थनामा यः।
समन्तादाप्तशाखाय प्रस्तुताऽस्मै सदा स्फीतिः ॥स्थायी॥१॥
ललिततमपल्लवप्राया विचाराधीनसत्काया।
अतुलकौतुकवती वा या कृततिरकलङ्कसद्वीतिः ॥स्थायी॥२॥
सुमनसामाश्रयातिशयस्तम्बको जैनसेनेन यः।
दिगन्तव्याप्तकीर्तिमयः प्रथितषट्चरणसङ्गीतिः ॥स्थायी॥३॥
शिवायन इत्यतः ख्याता चरणपानामहो माता।
समन्ताद्भद्रविख्याता श्रियो भूराप्तपथरीतिः ॥स्थायी॥४॥

उस शास्त्ररूप उद्यानमें सदा प्रेम-पूर्वक मेरी दृष्टि संलग्न रहे, जिस उद्यानमें तत्त्वार्थसूत्र जैसे नामवाले उत्तम वृक्ष विद्यमान हैं, जिसकी मृदुल सुख-कारी छाया है और जिसकी अनेकों शाखाएं चारों ओर फैल रही हैं, उसके अधिगमके लिए मेरा मन सदा उत्सुक रहता है। जिस तत्त्वार्थसूत्र पर अत्यन्त ललित

पद-वाली श्रीपूज्यपादस्वामि-रचित सर्वार्थसिद्धि-करी वृत्ति है और जिसे अत्यन्त मनन-विचार पूर्वक आत्मसात् करके अतुल कौतुक (चमत्कार) वाली महावृत्ति (राजवार्तिक) श्रीअकलङ्कदेवने रची है जो कि निर्दोष बुद्धिवाले विद्वानोंके द्वारा ही अध्ययन करनेके योग्य है। जैसे एक महान् वृक्ष अनेकों पुष्पमयी लताओं और पक्षियोंसे व्याप्त रहता है, उसी प्रकार यह महाशास्त्र भी अनेकों टीकाओं और अध्ययनकर्त्ताओंसे व्याप्त रहता है। जिस श्रुत-उद्यानमें श्रीजिनसेनाचार्यसे रचित महापुराणरूप महापादप भी विद्यमान है, जोकि दिगन्त व्याप्त कीर्त्तिमय है। उत्तम सुमनोके गुच्छोंका आश्रयभूत है, विद्वज्जनरूप भ्रमरोंसे सेवित है और असि, मषि आदि षट् कर्म करनेवाले गृहस्थोका जिसमें आचार विचार विस्तारसे वर्णित है। उस श्रुतस्कन्धरूप उद्यानमें सर्वज्ञ-प्रतिपादित, सर्वकल्याणकारी शिव-मार्गकी समन्तभद्राचार्य-प्रणीत सूक्तिया विद्यमान है और शिवायन-आचार्य-रचित संयम-धारियों के लिए भगवती माताके समान परम हितकारी भगवती आराधना शिव-मार्गको दिखा रही है, उस शास्त्ररूप उद्यानमे मेरी दृष्टि सदा संलग्न रहे ॥१-४॥



रामाजन इवाऽऽरामः सालसक्रममादधत् ।
प्रीतयेऽभूच्च लोकानां दीर्घनेत्रधृताञ्जनः ॥१॥

उस वसन्त ऋतुमें उद्यान स्त्रीजनोंके समान लोगोंकी प्रीतिके लिए हो रहा था। जैसे स्त्रियां आलस-युक्त हो मन्द-गमन

करती हैं, उसी प्रकार वह उद्यान भी सालजातिके वृक्षोंके सगम को धारण कर रहा था। और जैसे स्त्रिया अपने विशाल नयनो मे अजन (काजल) लगाती है, उसी प्रकार लम्बी जड़ोवाले अजन जातिके वृक्षोंको वह उद्यान धारण कर रहा था ॥१॥

स्वयं कौतुकितस्वान्तं कान्तमामेनिरेऽङ्गनाः ।
पुन्नागोचितसंस्थानं मदनोदारचेष्टितम् ॥२॥

उस उद्यानको स्त्रियोने भी अपने कान्त (पति) के समान समझा। जैसे पति स्वय कौतुक-युक्त चित्तवाला होता है, वैसे ही वह उद्यान भी नाना प्रकारके कौतुको (पुष्पो) से व्याप्त था। जैसे पति एक श्रेष्ठ पुरुषके सस्थान (आकार-प्रकार) को धारण करता है, वैसे ही वह उद्यान भी पुन्नाग (नागकेशर) जातिके उत्तम वृक्षोंके सस्थानसे युक्त था। तथा जैसे पति मदन (काम) की उदार चेष्टाओंको करता है, उसी प्रकार वह उद्यान भी मदन जातिके मैन फल आम आदि जातियोके वृक्षोकी उदार चेष्टाओंसे सयुक्त था ॥२॥

भावार्थ – इस प्रकार वसन्त ऋतुमे नगरके उद्यानोंने स्त्री और पुरुष दोनोंको ही आकर्षित किया और सभी नगर-निवासी स्त्री-पुरुष वन-विहार करनेके लिए उद्यानमे पहुचे।

कान्तारसद्विहारेऽस्मिन् समुदीक्ष्य मनोरमाम् ।
स्तनन्धयान्वितामत्र कपिलाऽऽह्वावनीश्वरीम् ॥३॥
केयं केनान्विताऽनेन मौक्तिकेनेव शुक्तिका ।
जगद्विभूषणेनाऽस्ति स्वरूपात्पूततां गता ॥४॥ (युग्मम्)

उस वन-विहारके समय पुत्रके साथ जाती हुई मनोरमाको देखकर कपिलाने राजा धरणीभूषणकी रानी अभयमतीसे पूछा – हे महारानी, अपने सौन्दर्यशाली स्वरूपसे पवित्रताको प्राप्त यह स्त्री कौन है और जगत्को विभूषित करनेवाले मोतीसे जैसे सीप शोभित होती है, उसी प्रकार यह किसके जगद्विभूषण पुत्रसे संयुक्त होकर शोभित हो रही है ॥३-४॥

अस्ति सुदर्शनतरुणाऽभ्यूढेयं सुखलताऽयमथ च पुनः ।
कौतुकभूमिरमुष्या नयनानन्दाय विलसतु नः ॥५॥

रानीने कहा – दर्शनीय उत्तम वृक्षमे आलिंगित सुन्दर लताके समान यह नवयुवक राज-सेठ सुदर्शनसे विवाहित सुखदायिनी सौभाग्यवती मनोरमा सेठानी है और यह कौतुक (हर्ष) का उत्पादक उसका पुत्र है जो कि हम लोगोके नयनो के लिए भी आनन्द-दायक हो रहा है ॥५॥

प्रत्युक्तया शनैरास्यं मनैराश्यमुदीरितम् ।
नपुंसकस्वभावस्य स्वभाऽवश्यमियं नु किम् ॥६॥

इस प्रकार रानीके द्वारा कहे जाने पर उस कपिलाने निराशा-पूर्वक धीमे स्वरसे कहा – क्या नपुंसक स्वभाववाले उस सुदर्शनका यह लड़का होना संभव है ॥६॥

निशम्येत्यगदद्राज्ञी सगदेव हि भाषसे ।
समुन्मत्ते किमेतावत् समुन्मान्तेदृशो हि न ॥७॥

कपिलाके ऐसे वचन सुनकर रानी बोली – हे समुन्मत्ते, (पगली,) तू रोगिणी-सी यह क्या कह रही है ? क्या तेरी दृष्टि मे वह सुदर्शन पुरुष (पुरुषार्थ-युक्त) नही है ॥७॥

श्रुतमश्रुतपूर्वमिदं तु कुतः कपिले त्वया स वैक्लैव्ययुतः ।
पुरुषोत्तमस्य हि न मानवता केनानुनीयतां मानवता ॥८॥

हे कपिले, वह सुदर्शन सेठ नपुंसक है, यह अश्रुतपूर्व बात तूने कहासे सुनी ? उन जैसे उत्तम पुरुषके पौरुषता कौन मनस्वी पुरुष नही मानेगा ? अर्थात् कोई भी उन्हे नपुंसक नही मान सकता ॥८॥

इत्यतः प्रत्युवाचापि विप्राणी प्राणितार्थिनी ।
भवत्यस्ति महाराज्ञी यत्किञ्चिद्वक्तुमर्हति ॥९॥
हेऽवनीश्वरि सम्वच्मि सम्वच्मीति न नेति सः ।
सम्प्रार्थितः स्वयं प्राह मयैकाकी किलैकदा ॥१०॥ (युग्मम्)

यह सुनकर वह कपिला ब्राह्मणी बोली – आप महारानी है, अतः आप जो कुछ भी कह सकती है । किन्तु मैं भी तो विचार-शीला हूँ । हे पृथ्वीश्वरि, मैं जो कह रही हूँ, वह एक दम सत्य है । मैंने एक वार एकान्तमें उससे अकेले ही काम-सेवनकी प्रार्थना की थी, तब उसने स्वयं ही कहा था कि मैं 'पुरुष' नही हूं । अर्थात् नपुंसक हूं, अतः तेरी प्रार्थना स्वीकार करनेमें असमर्थ हूं ॥९-१०॥

राज्ञी प्राह किलाभागिन्यसि त्वं तु नगेष्वसौ ।
पुन्नाग एव भो मुग्धे दुग्धेषु भुवि गव्यवत् ॥११॥

कपिलाकी बात सुनकर रानी बोली, कपिले, तू तो अभागिनी है । अरे वह सुदर्शन तो सब पुरुषोमे श्रेष्ठ पुरुष है, जैसे कि सब वृक्षोमे पुन्नाग का वृक्ष सर्व श्रेष्ठ होता है और दुग्धोमे गायका दूध सर्वोत्तम होता है ॥११॥

अहो सुशाखिना तेन कापि मञ्जुलताऽञ्चिता ।
भुवि वर्णाधिकत्वेन कपिले त्वञ्च वञ्चिता ॥१२॥

अरी कपिले, उस उत्तम भुजाओके धारक सुदर्शनने उच्च वर्णकी होनेसे तुझे ठग लिया है, जैसे कि उत्तम शाखाओवाला कोई सुन्दर वृक्ष किसी सुन्दर लताको ढक लेता है ॥१२॥

अमा हसेन तत्रापि साहसेन तदाऽवदत् ।
विप्राणी प्राणिताप्त्वा को न मुह्यति भूतले ॥१३॥

रानीकी बात सुनकर लज्जित हुई भी वह ब्राह्मणी फिर भी साहस करके धृष्टतापूर्वक बोली – इसमें क्या बात है ? ससारमे ऐसा कौन है जो कि भूलता न हो ॥१३॥

आस्तां मद्विषये देवि श्रीमतीति भवत्यपि ।
सुदर्शनभुजाश्लिष्टा यदा किल धरातले ॥१४॥

किन्तु देवीजी, मेरे विषयमें तो रहने देव, आप तो श्रीमती हैं, आपका श्रीमतीपना भी मैं तभी सार्थक समझूंगी,

जबकि आप भूतल पर अपने सौन्दर्यमें प्रसिद्ध इस सुदर्शनकी भुजाओसे आलिंगित हो सके ॥१४॥

मधुरेण समं तेन सङ्गमात्कौतुकं न चेत् ।
युवत्या यौवनारामः फलवत्तां कुतो व्रजेत् ॥१५॥

वसन्तके समान मधुर उस महाभागके साथ सगमसे जिसे आनन्द प्राप्त न हो, उस युवती स्त्रीका यौवनरूप उद्यान सफलता को कैसे प्रात कर सकता है ? अर्थात् जैसे वसन्तके समागम-विना बाग-बगीचे फल-फूल नही सकते, उसी प्रकार सुदर्शनके समागम के विना नवयुवतीका यौवन भी सफल नही समझना चाहिए ॥१५॥

एवं रसनया राज्याश्चित्ते रसनया तया ।
सुदर्शनान्वयायाङ्का स्थापिता कपिलाख्यया ॥१६॥

इस प्रकारकी रस-भरी वाणीसे उस कपिला ब्राह्मणीने रानीके चित्तमे सुदर्शनके साथ समागम करनेकी इच्छा अच्छी तरहसे अंकित कर दी ॥१६॥

विश्वं सुदर्शनमयं विबभूव तस्या
रुच्या न जातु तमृते सकला समस्या ।
सत्पुष्पतल्पमपि वह्निकणोपकल्पं
यन्मोदकञ्च भुवि सोदकमुग्रकल्पम् ॥१७॥

इसके पश्चात् उस रानीको यह सारा विश्व ही सुदर्शन-मय दिखाई देने लगा, उसके विना अब कोई भी वस्तु उसे

रुचिकर नही लगती थी, उत्तम-उत्तम कोमल पुष्पोसे सजी सेज भी उसे अग्निकणोसे व्याप्तसी प्रतीत होती थी और मिष्ट मोदक तथा शीतल जल भी विषके समान लगने लगे ॥१७॥

निर्वारिमीनमितामिङ्गितमभ्युपेता
प्रालेयकल्पधृतवीरुधिवाल्पचेताः ।
चन्द्रं विनेव भुवि कैरविणी तथेतः
पृष्ठा समाह निजचेटिकयेत्थमेतत् ॥१८॥

जलके विना तड़फड़ाती हुई मछलीके समान व्याकुलित चित्तवाली, तुषार-पातसे मुरझायी हुई लताके समान अवसन्न (शून्य) देहवाली और चन्द्रमाके विना कमलिनीके समान म्लान मुखवाली रानीको देखकर उसकी दासीने रानीसे पूछा–स्वामिनी जी, क्या कष्ट है ? रानी बोली...... ॥१८॥

उद्यानयानजं वृत्तं किन्न स्मरसि पण्डिते ।
अहन्तु सस्मरा तस्मिन् विषये स्फीतिमण्डिते ॥१९॥

हे पण्डिते, वन-विहारको जाते समय कपिलाके साथ जो बातचीत हुई थी, वह तुझे क्या याद नही है ? मैं तो उसी आनन्द-मण्डित रोचक विषयको तभीसे याद कर रही हूं, अर्थात् सुदर्शनके स्मरणसे मैं कामार्त हो रही हूं ॥१९॥

पण्डिताऽऽह किलैनस्य प्रियाऽसि त्वं प्रतापिनः ।
कुतः श्वेतांशुकायाऽपि भूयाः देवि कुमुद्वती ॥२०॥

रानीकी बात सुनकर वह चतुर दासी बोली–हे देवि, तुम सूर्य जैसे प्रतापशाली राजाकी कमलिनी जैसी प्रिया होकरके भी श्वेत-किरणवाले चन्द्रमाके समान श्वेत वस्त्रधारी उस सुदर्शनकी कमोदिनी बनना चाहती हो ? अर्थात् यह कार्य तुम्हारे लिए उसी तरह अयोग्य है, जैसे कि कमलिनी का कमोदिनी बनना। तुम राजरानी होकर वणिक्-पत्नी बनना चाहती हो, यह बहुत अनुचित बात है ॥२०॥

मनोरमाधिपत्वेन ख्याताय तरुणाय ते ।
मनोऽरमाधिपत्वेन ख्याताय तरुणायते ॥२१॥

रानीजी, मनोरमाके पतिरूपसे प्रसिद्ध उस तरुण सुदर्शन के लिए तुम्हारा मन इतना व्यग्र हो रहा है और उस अकिञ्चि-त्करको लक्ष्मीका अधिपति बनानेके लिए तरुणाई (जवानी) धारण कर रहा है, सो यह सर्वथा अयोग्य है ॥२१॥

सोमे सुदर्शने काऽऽस्था समुदासीनतामये ।
अमाभिधानेऽन्यत्राहो समुदासीनतामये ॥२२॥

यदि थोड़ी देरके लिए मान भी लिया जाय कि वह सौम्य है, सुदर्शन (देखने में सुन्दर) है, किन्तु जब अपनी स्त्रीके सिवाय अन्य सब स्त्रियोमें उदासीनतामय है, उन्हे देखना भी नही चाहता, जैसे कि चन्द्रमा अमावस्याकी रात्रिको और तब ऐसे उदासीनतामयी व्यक्तिकी ओर हे रानीजी, हमारा भी क्यों ध्यान जाना चाहिये ? ॥२२॥

विरम विरम भो स्वामिनि त्वं महितापि जनेन ।
किमिति गदसि लज्जाऽऽस्पदं किं ग्लपिताऽसि मदेन ॥२३॥

इसलिए हे स्वामिनि, ऐसे घृणित विचारको छोड़ो, छोड़ो। आप जैसी महामान्य महारानीके मुख-द्वारा ऐसी लज्जास्पद बात कैसे कही जा रही है? क्या आप मदिरा-पानसे बेहोश हो रही है? ॥२३॥

निजपतिरस्तु तरां सति! रम्यः कुलबालानां किन्नु परेण ॥स्थायी॥
सकलङ्कः पृषदङ्ककः स क्षयसहितः सहजेन ।
कुमुद्वती सा मुद्वती भो प्रभवति न विना तेन ॥स्था.१॥
स न दृश्यः सन्तापकृद् भो द्वादशात्मकत्वेन ।
कथितः पथि विदुषां पुनः खलु विकसति नलिनी तेन ॥स्था.२॥
वनविचरणतो दुःखिनी किल सीता सती नु तेन ।
किं पतिता व्रततो धृताऽपि तु लङ्कापतिना तेन ॥स्थायी॥३॥
यातु सा तु सञ्जीविता भुवि सत्या अलमपरेण ।
भूरागस्य परेण सह सा स्वप्नेऽप्यस्तु न तेन ॥स्थायी॥४॥

हे सति, कुलीन नारियोंके तो निज पति ही सर्वस्व होता है, उन्हे पर पुरुषसे क्या प्रयोजन है? देखो—यह चन्द्रमा कलङ्क-सहित है, शशकको अपनी गोदमें बैठाये हुए है और स्वभावसे ही क्षय रोग-युक्त है, तो भी यह कमोदिनी उसे ही देखकर प्रमोद पाती है और उसके बिना प्रमोद नहीं पाती, प्रत्युत

म्लान-मुखी बनी रहती है। और देखो—यह सूर्य, जिसे कोई देख नही सकता, सबको संतापित करता है और जिसे विद्वानोंने द्वादशात्मक रूपमे वर्णन किया है अर्थात् जो बारह प्रकारके रूपोको धारण करता है, कभी एक रूप नही रहता। फिर भी कमलिनी उससे ही विकसित होती है, अर्थात् सूर्यसे ही प्रसन्न रहती है। और देखो—वह सीता सती वनमे रामके साथ विचरने मे दु खिनी थी, फिर भी क्या लकापति रावणके द्वारा हरी जाने और नाना प्रकारके प्रलोभन दिये जाने पर भी अपने पातिव्रत्य धर्मंमे पतित हुई ? सती शीलवती स्त्रीका जीवन जाय तो जाय पर वह अपने पातिव्रत्य-धर्मसे पतित नही होती है। इसलिए अधिक कहनेसे क्या, पतिव्रता स्त्रीको तो स्वप्नमें भी परपुरुषके साथ अनुराग नही करना चाहिए ॥१–४॥



एवं प्रस्फुटमुक्ताऽपि गुणयुक्ता वचस्ततिः ।
हृदये न पदं लेभे राज्ञ्याः सेत्यवदत्पुनः ॥२४॥

इस प्रकार दासीके द्वारा स्पष्टरूपसे कही गई गुण युक्त वचनोंकी मुक्तामालाने भी उस रानीके हृदयमें स्थान नही पाया और कामान्ध हुई उसने पुनः कहना प्रारम्भ किया ॥२४॥

प्रभवति कथा परेण पथा रे युवते रते मयाऽभीतारे ॥स्थायी॥
पतिरिति परदेशं यदि याति, पतितत्वादियुतो वा भाति,
कुसुमं सम्प्रति महिला लाति साञ्चेत् कमपि स्मृतिकथना रे ॥१

बाला द्रुपदभूपतेर्यापि, गदिता पञ्चभर्तृका सापि,
पातिव्रत्यं किन्न तयापि, किल सत्यापि पुरातनकाले ॥२॥
जनकसुतादिकवृत्तवचस्तु जनरञ्जनकृत्केवलनस्तु;
न तु पुनरेकान्ततया वस्तुमेणाक्षीणां मनस्युदारे ॥३॥
भूराज्ञः किमभूदेकस्य, यद्वा सा प्रवरस्य नरस्य।
तद्वन्महिलामपि सम्पश्य, यतनः कर्तव्योऽस्त्यधिकारे ॥४॥

अरी पण्डिते, तूने मनुस्मृतिको नही पढा है ? उसमें कहा है – "यदि पति परदेश गया हो, अथवा जाति-पतित हो, या नपुमकत्व आदि शारीरिक दोषसे युक्त हो और स्त्री मासिक धर्म को धारण कर रही हो (ऋतुमती हो) और उसका पति समय पर उपस्थित न हो, तो वह अपनी इच्छानुसार किसी भी पुरुष को स्वीकार कर सकती है।" इस प्रकार स्मृतिशास्त्रमे युवतीको रतिके विषयमे और ही मार्गवाली कथा मैंने पढी है और सुन, पूर्वकालमे द्रुपदराजाकी बाला द्रौपदी पच भर्तारवाली (महाभारतमे) कही गई है, फिर भी क्या वह सती नही थी और क्या उसने पातिव्रत्यपद नही पाया ? हां जनक-सुता सीता आदिका वृतान्त तो आदर्श होते हुए भी केवल जन-मन-रजन करनेवाला है, किन्तु वह एकान्तरूपसे मृगनयनी स्त्रियोके उदार मनमें स्थान पानेके योग्य नहीं है। अरी पण्डिते, यह पृथ्वी भी तो एक स्त्री ही है, वह क्या कभी एक ही पुरुषको बनकर रही है ? वह भी प्रबल शक्तिशाली पुरुषको ही भोग्या बनकर रहती है। इसी प्रकार स्त्रीको भी देख, अर्थात् उसे भी किसी एकको ही बनकर

नहीं रहना चाहिए, किन्तु सदा बलवान् पुरुषकी भोग्या बनना चाहिए। इसलिए अब अधिक देर मत कर और अपने अधिकृत कार्यमें प्रयत्न कर ॥१-४॥



कटु मत्वेत्युदवमत्सा रुग्णाऽतोऽमृतं च तत्।
पथ्यं पुनरिदं दातुं प्रचक्रामाऽनुचारिणी ॥२५॥

काम-रोगसे ग्रसित उस रानीने दासीके द्वारा कहे गये वचन रूप अमृतको भी कटुक विष मानकर उगल दिया। फिर भी आज्ञाकारिणी उस दासीने यह आगे कहा जानेवाला सुभाषित-रूप पथ्य प्रदान करनेके लिए प्रयत्न किया ॥२५॥

देशिकसौराष्ट्रीयो रागः–

न हि परतल्पमेति स ना तु ॥ स्थायी ॥
किन्तु भूरागस्य भूयाद् बुधो विपदे जातु,
क्षणिकनर्मणि निजयशोमणिमसुलभं च जहातु।
न हि परतल्पमेति स ना तु ॥१॥
भोजने भुक्तोज्झिते भुवि भो जनेश्वरि,
भातु, रुक्करोऽपि स कुक्करो न हि परो द्रुममपि यातु।
न हि परतल्पमेति स ना तु ॥२॥
छर्मामस्यविपक्वसमया खलु कुकर्मकथा तु,
पायुवायुरिवायुरात्वा प्रसरमाशु च लातु।

न हि परतल्पमेति स ना तु ॥३॥
मोदकं सगरोदकं सखि कोऽत्र निजमत्याऽस्तु,
दण्डभूराजादिकेभ्यो द्रुतमुत प्रतिभातु ।
न हि परतल्पमेति स ना तु ॥४॥

रानीका आदेश सुनकर वह दासी फिर भी बोली — महारानीजो, वह महापुरुष भूल करके भी पर स्त्रीके पास नही जाता है। वह विद्वान् ऐसा अनुचित राग करके विपत्तिमे क्या पडेगा और क्यो अति दुर्लभतासे प्राप्त अपने यशरूप मणिको इस क्षणिक विनोदमे खोएगा ? हे जनेश्वरि, इस भूतल पर खाकर दूसरे के द्वारा छोडे हुए जूठे भोजनको खानेके लिए कोई कुत्ता भले ही रुचि करे, किन्तु कोई भला मनुष्य तो उसकी ओर अपना दृष्टि भी नही डालता है। वैसे ही पर-भुक्त कलत्रकी ओर वह महापुरुष भी दृष्टि-पात नही करता है। कुकर्मी लोग विपत्तिके भयसे कुकर्मको अति सावधानीके साथ गुप्त रूपसे करते है, कि वह प्रकट न हो जाय। किन्तु वह कुकर्म तो समय पाकर अगान-वायुके समान शीघ्र ही प्रसारको प्राप्त हो जाता है। इसलिए वह पुरुषोत्तम पर नारीके पास भूल करके भी नही जाता है। हे सखि, इस संसारमे विष-सहित जलसे बने मोदकको कौन ऐसा पुरुष है, जो जान-बूझकर खालेवे। पर-दारा-सेवनसे मनुष्य यही पर राजादिसे शीघ्र दण्डका पात्र होता है, फिर वह समझदार होकर कैसे राज-रानीके पास आयेगा ? अर्थात् कभी नही आयगा। इसलिए महारानीजो, अपना यह दुर्विचार छोड़ो ॥१-४॥



उचितामुक्तिमप्याप्त्वा पण्डिताया नृपाङ्गना ।
तामाह पुनरप्येवं कामातुरतयार्थिनी ॥२६॥

उस विदुषी दासीकी ऐसी उचित बातको सुनकर भी रानीको प्रबोध प्राप्त नही हुआ और अत्यन्त कामान्ध होकर काम-प्रार्थना करती हुई वह राज-रानी फिर भी उससे बोली ॥२६॥

पण्डिते किं गदयेवं गदस्येव समीक्षणात् ।
त्वदुक्तस्य भयोऽस्माकं प्रत्युतोदेति चेतसि ॥२७॥

हे पण्डिते, तू ऐसी अनर्गल बात क्यों कहती है ? मैं तो पहलेसे ही काम-रागसे पीड़ित हो रही हूं और तेरे कहनेसे तो मेरे मनमे और भी दुःख बढता है, जैसेकि किसी रोगसे पीडित मनुष्यका दुःख नये रोगके हो जानेसे और भी अधिक बढ जाता है ॥२७॥

कौमुदं तु परं तस्मिन् कलावति कलावति ।
सति पश्यामि पश्यामी दुःखतो यान्ति मे क्षणाः ॥२८॥

नाना कलाओंको धारण करनेवाली हे कलावति, जैसे कलावान् चन्द्रमाको देखकर ही कुमुद प्रमोदको प्राप्त होता है, उसी प्रकार मैं भी उस कलावान् सुदर्शनको देखकर ही प्रमोदको प्राप्त कर सकती हूं, अन्यथा नहीं। तू देख तो सही, मेरे ये एक-एक क्षण कितने दु:खसे व्यतीत हो रहे हैं ॥२८॥

सा सुतरां सखि पश्य सिद्धिरनेकान्तस्य ॥स्थायी॥
वेश्याया बालक-बालिकयोस्तनुजो वेश्यावश्यः ।
तत्र भाति पितुरेव पुत्रता स्पष्टतया मनुजस्य ॥
तत्त्वतः कः किं कस्य, सिद्धिरनेकान्तस्य ॥१॥
यः क्रीणाति समर्घमितीदं त्रिक्रीणीतेऽवश्यम् ।
विपणौ सोऽपि महर्घं पश्यन् कार्यमिदं निगमस्य ॥
सङ्गतिश्चेद् ग्राहकस्य, सुतरां सखि पश्य सिद्धिरनेकान्तस्य ॥२॥
ज्वरिणः पयसि दधिनि अतिसरतो द्रयतोऽपि क्षुधितस्य ।
रुचिरुचिता प्रभवति न भवति सा क्वचिदपि उपोषितस्य ॥
कथञ्चित् सद्विषयस्य, सुतरां सखि पश्य सिद्धिरनेकान्तस्य ॥३॥
एवमनन्तधर्मता विलसति सर्वतोऽपि तत्त्वस्य ।
भूरास्तां खलतायास्तस्मादभिमतिरेकान्तस्य ॥
प्रसिद्धा न तु विबुधस्य सिद्धिरनेकान्तस्य ॥४॥

हे सखि, देख, अनेक धर्मात्मक वस्तुकी सिद्धि स्वय सिद्ध है। अर्थात् कोई भी कथन सर्वथा एकान्तरूप सत्य नहीं है। प्रत्येक उत्सर्ग मार्गके साथ अपवाद मार्गका भी विधान पाया जाता है। इसलिए दोनो मार्गोंसे ही अनेकान्तरूप तत्त्वकी सिद्धि होती है। देख – एक वेश्यासे उत्पन्न हुए पुत्र-पुत्री कालान्तरमें स्त्री-पुरुष बन गये। पुनः उनसे उत्पन्न हुआ पुत्र उसी वेश्याके वशमें हो गया अर्थात् अपने बापकी मांसे रमने लगा। इस अठारह नातेकी कथामें पिताके ही पुत्रपना स्पष्ट रूपसे दृष्टि-

गोचर हो रहा है। फिर किस मनुष्यका किसके साथ तत्त्वरूपसे सच्चा सम्बन्ध माना जाय ! इसलिए मैं कहती हूं कि अनेकान्त की सिद्धि अपने आप प्रकट है। बाजारमें जब वस्तु सस्ती मिलती है, व्यापारी उसे खरीद लेता है, और जब वह मंहगी हो जाती है, तब ग्राहकके मिलने पर उसे अवश्य बेच देता है, यही व्यापारीका कार्य है। इसलिए एक नियम पर बैठकर नहीं रहा जाता। सखि, अनेकान्तकी सिद्धि तो सुतरां सिद्ध है। और देख— जीर्ण ज्वरवाले पुरुषकी दूधमें, अतिसारवाले पुरुषकी दहीमें और रोग-रहित भूखे मनुष्यको दोनोंमें रुचिका होना उचित ही है। किन्तु उपवास करनेवाले पुरुष की उन दोनोंमें से किसी भी पर रुचि उचित नही मानी जा सकती। इसलिए मैं कहती हूं कि सखि, एकान्तसे वस्तुतत्त्वको सिद्धि नहीं होतो, किन्तु अनेकान्तसे ही होती है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्वकी अनन्तधर्मता प्रमाणसे भली भांति सिद्ध होकर विलसित हो रही है। इसलिए एकान्त को मानना तो मूर्खताका स्थान है। विद्वज्जनको ऐसी एकान्त वादिता स्वीकार करनेके योग्य नही है। किन्तु अनेकान्तवादिता को ही स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि अनेकान्तवादको सिद्धि प्रमाणसे प्रसिद्ध है ॥१-४॥

स्वामिन आज्ञाऽभ्युद्धृतये तु सेवकस्य चेष्टा सुखहेतुः ।
धिर्विंदधातु इत्यचिन्तयच्चेटी सा तु ॥२९॥

रानीकी ऐसी तर्कपूर्ण बातोंको सुनकर उस दासीने विचार किया कि स्वामीकी आज्ञाको स्वीकार करना ही सेवककी

भलाईके लिए होता है। उसका करना ही उसे सुखका कारण है। उसकी भली-बुरी आज्ञाका फल तो उसे दैव ही देगा। मुझे उसकी चिन्ता क्यों करनी चाहिए। इस प्रकार उस दासीने अपने मनमें विचार किया ॥२६॥

किन्तु परोपरोधकरणेन कर्त्तव्याऽध्वनि किमु न सरामि ॥स्थायी॥
शशकृतसिंहाकर्षणविषयेऽप्यत्र किलापदेशकरणेन।
गुरुतरकार्येऽहं विचरामि, कर्तव्याध्वनि किमु न सरामि ॥१॥
दासस्यास्ति सदाज्ञस्यासौ स्वामिजनान्वितिरिति चरणेन।
तद्वाञ्छापूर्तिं वितरामि, कर्तव्याध्वनि किमु न सरामि ॥२॥
पुत्तलमुत्तलमित्यथ कृत्वा द्वाःस्थजनस्याप्यपहरणेन।
कृच्छ्रकार्यजलधेर्नु तरामि, कर्तव्याध्वनि किमु न सरामि ॥३॥
शवभूरात्मवता वितता स्यात् पर्वणि मूर्त्तियोगधरणेन।
तमिति द्रुतमेवाऽऽनेष्यामि, कर्तव्याध्वनि किमु न सरामि ॥४॥

मुझे दूसरेको रोकनेसे क्या प्रयोजन है? मैं अपने कर्त्तव्य के मार्ग पर क्यों न चलूं, ये रानी हैं और मैं नौकरानी हूं, मेरा उनको उपदेश देना या समझाना ऐसा ही है, जैसे कि कोई शशक (खरगोश) किसी सिंहको खींचकर ले जानेका विचार करे। इसलिए मुझे तो अपने गुरुतर कार्यमें ही विचरण करना चाहिए, अर्थात् स्वामीकी आज्ञाका पालन करना चाहिए। स्वामी लोगोंकी आज्ञाके अनुसार चलना ही सेवकका कर्त्तव्य है, इसलिए अब मैं उनकी इच्छा पूरी करनेका प्रयत्न करती हूं।

यद्यपि यह कार्य समुद्रको पार करनेके समान अति कठिन है, क्योंकि राजद्वार पर सशस्त्र द्वारपाल खडे रहते हैं। किन्तु मिट्टीका बना पुतला बनाकर और द्वार पर स्थित जनोंको ठगकर सुदर्शनके अपहरणसे मैं इस कार्यको सिद्ध कर सकती हूं। इसलिए अब मुझे अपने कर्त्तव्य मार्गमे ही लग जाना चाहिए। अष्टमी-चतुर्दशी पर्वके दिन सुदर्शन सेठ नग्न होकर श्मसान भूमिमे प्रतिमा योग धारण कर आत्मध्यानमें निमग्न रहते हैं, वहासे मैं उन्हे सहजमे ही शीघ्र ले आऊगी। ऐसा विचार कर वह पण्डिता दासी अपने कर्त्तव्यको सिद्ध करनेके लिए उद्यत होगई ॥१-४॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
तेन प्रोक्तसुदर्शनस्य चरितेऽसौ श्रीमतां सम्मतः
राज्ञीचेतसि मन्मथप्रकथकः षष्ठोऽपि सर्गो गतः ॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरीदेवीसे उत्पन्न हुए, वाणीभूषण, बालब्रह्मचारी प० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर-विरचित–इस सुदर्शनोदय काव्यमे रानी अभय-मतीके चित्तमे कामविकार-जनित दशाका वर्णन करनेवाला छठा सर्ग समाप्त हुआ।



अथ सप्तमः सर्गः

वस्त्रेणाऽऽच्छाद्य निर्माप्य पुत्तलं निशि पण्डिता ।
अन्तःपुरप्रवेशायोद्यताऽभूत्स्वार्थसिद्धये ॥१॥

अब उस पण्डिता दासीने अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिए मिट्टीका एक मनुष्याकार वाला पुतला बनवाया और उसे वस्त्रसे अच्छी तरह ढककर रातमे उसको अपनी पीठ पर लादकर अन्त पुरमे प्रवेश करनेके लिए उद्यत हुई ॥१॥

प्रार्थयन्तीं प्रवेशाय प्रतीहारो जगाद ताम् ।
निषेधयन् स निम्नोक्तं स्वकर्तव्यपरायणः ॥२॥

अन्त.पुरमे जानेकी आज्ञा देनेके लिए प्रार्थना करनेवाली उस दासीसे अपने कर्त्तव्य-पालनमे तत्पर द्वारपालने निषेध करते हुए इस प्रकार कहा ॥२॥

किं प्रजल्पसि भो भद्रे द्वाःस्थोऽहं यत्र तत्र तु ।
प्रवेष्टुं नैव शक्नोति चटिका त्वन्तु चेटिका ॥३॥

हे भद्रे, तू क्या कह रही है ? जहा पर मैं द्वारपाल हूं, वहा पर भीतर जानेके लिए चिड़िया भी समर्थ नही है, फिर तू तो चेटी (दासी) है ॥३॥

उपतिष्ठामि द्वारि पश्य, अहो किमु नास्ति दया तव शस्य ॥स्था०
पुत्तलकेन ममात्मनो हा हतिर्विरूपपरस्य ।
अनुभूता शतशो मयाऽहो दशा परिभ्रमणस्य ॥अहो किमु०१॥
अभयमती सा श्रीमती हा सङ्कटमिता नमस्य ।
पारणमस्याः किं भवेत्तामाराधनामुदस्य ॥अहो किमु०॥२॥
उपदेशविधानं यतोऽदः प्रतीक्षते गुणशस्य ।
राज्ञीहाऽहं द्वारि खलु तानीहे गामविपस्य ॥अहो किमु०॥३॥
भृगास्तानिह जातुचिदहो सुन्दल न विलम्बस्य ।
आदेशं कुरुतान्महन् भो सुखप्रवेशनकस्य ॥अहो किमु० ॥४॥

द्वारपालकी बात सुनकर उस दासीने फिर कहना प्रारम्भ किया–हे प्रशसनीय द्वारपाल, मै द्वार पर कबसे खडी हुई हूं। बहुत दूरसे लाये हुए इस पुतलेके भारसे मेरी आत्माका बुरा हाल हो रहा है, मै बोझसे मरी जा रही हूं, तब भी हे भले मानुष, तुझे क्या दया नही आरही है ? अरे द्वारपाल, इस पुतलेके पोछे घूमते-घूमते मैंने सैकडों कष्टमयी दशाए भोगी हैं, सो अब दया कर और मुझे भीतर जाने दे। हे आदरणीय द्वारपाल, देख–आज महारानीका उपवास है, वे इस पुतलेकी पूजा-आराधना किये बिना पारणा कैसे कर सकेंगी ? और जब वे पारणा नही कर सकेंगी, तो फिर श्रीमती अभयमती रानीजी महान् सकटको प्राप्त होगी। इसका मुझे महा दुःख है, सो मुझे भीतर जाने दे। रानीजी व्रत-दाताके उपदेशानुसार इस पुतलेकी पूजा करने के लिए उधर प्रतीक्षा कर रही हैं और

इधर मैं द्वार पर खडी हुई द्वारके स्वामीसे आज्ञा माग रही हूं। आप जाने नही देते। सो हे प्रशसनीय गुणवाले द्वारपाल, तू ही बता, अब क्या किया जाय ? हे सुन्दर द्वारपाल, अब अधिक विलम्ब मत कर, और हे महानुभाव, मुझे सुखसे अन्त पुरमे जाने के लिए आज्ञा दे ॥१-४॥

साहसेन सहसा प्रविशन्त्यास्तत्तनोर्नियमनात्निपतन्त्याः !
पुत्तलं स्फुटितभावमवापाऽतो ददाविति तु सा बहुशापान् ॥४॥

इस प्रकार बहुत प्रार्थना करनेपर भी जब द्वारपालने उसे भीतर नही जाने दिया, तब वह दासी साहसपूर्वक भीतर प्रवेश करने लगी। द्वारपालने उसे रोका। रोकने पर भी जब वह नही रुकी, तो उसने दासीको धक्का देकर बाहिर की ओर ज्यो ही किया, त्यो ही दासीकी पीठ पर से पुतला पृथ्वीपर गिर कर फूट गया। दासी फूट-फूटकर रोने लगी और द्वारपालको नाना प्रकार की शापे देने लगी ॥४॥

अरे राम रेऽहं हता निर्निमित्तं हता चापि राज्ञीह तावत्क्वचित्तम् ।
निधेयं मया किं विधेयं करोतूत सा साम्प्रतं चाखवे यद्वदोतुः ॥

अरे राम रे, मैं तो विना कारण मारी गई, और महारानीजी भी अब विना पारणाके मरेंगी ? अब मैं क्या करू, मनमें कैसे धीरज धरू ? अब तो महारानीजी मुझ पर ऐसे टूट कर गिरेंगी, जैसे भूखी बिल्ली चूहे पर टूट कर गिरती है ॥५॥

कुतः स्यात्पारणा तस्याः पुत्तलव्रतसंयुजः ।
शङ्कयन्ते किलास्माकं चित्ते तावदमू रुजः ॥६॥

'पुत्तलव्रतको धारण करनेवाली महारानीजीकी पारणा पुतलेके बिना कैसे होगी ?' यह बात मेरे चित्तमें शूलकी भांति चुभ रही है। मुझे जरा भी चैन नही है, हाय मैं क्या करूं ॥६॥

सोऽप्येवं वचनेन कम्पमुपयन् प्राहेति हे पण्डिते;
क्षन्तव्योऽस्मि तवोचितोचितविधौ सद्भावनामण्डिते।
योग्यत्वाज्ञतयैव विघ्नकरणो जातोऽन्यदा सम्वदा-
म्येतादृक्करणैघृणैकविषयो नाहं भवेयं कदा ॥७॥

दासीके इस प्रकार विलापमय वचन सुनकर भयसे कांपता हुआ द्वारपाल बोला—हे पण्डिते, हे सद्भावमण्डिते मैं दास क्षन्तव्य हूं, मुझे क्षमा करो, तेरे उचित कर्त्तव्य करनेमे यथार्थ बातकी अजानकारीसे ही मैं विघ्न करनेवाला बना। अब मैं प्रतिज्ञा करता हू कि आगे कभी भी मै ऐसा निन्द्य कार्य नही करूंगा, अबकी वार हे सहृदय दयालु बहिन, मुझे क्षमा कर ॥७॥

एवमुक्तप्रकारेणाऽऽयाता कृष्णचतुर्दशी।
यस्यां निशि समुत्थाता प्रतिमायोगतो वशी ॥८॥

इस प्रकार प्रतिदिन पुतला लाते हुए क्रमशः कृष्णपक्षकी चतुर्दशी आगई, जिसकी रात्रिमे वह जितेन्द्रिय सुदर्शन सेठ प्रतिमायोगसे स्मशानमें ध्यान लगाकर अवस्थित रहता था ॥८॥

चतुर्दश्यष्टमी चापि प्रतिपन्नमिति द्वयम्।
उक्तं पर्वोपवासाय समस्तीहार्हता स्वयम् ॥९॥

प्रति मास प्रत्येक पक्षकी अष्टमी और चतुर्दशी ये दो पर्व अनादिसे उपवासके लिए माने गये है, अतएव इन दोनों पर्वोंमे योग्य मनुष्यको स्वय ही उपवास करना चाहिए ।।६।।

स्यात् पर्वव्रतधारणा गृहिणां कर्मक्षयकारणात् ।।स्थायी।।
उपसंहृत्य च करणग्रामं कार्या स्वात्मविचारणा ।।१।।
गुरुपदयोर्मदयोगं त्यक्त्वा प्राङ् निशि यस्योद्धरणा ।।२।।
षोडशयाममितीदं यावच्छ्रीजिननामोच्चारणात् ।।३।।
अतिथिसत्कृतिं कृत्वाऽप्रदिने भूरापादितपारणा ।।४।।

कर्मोंका क्षय करनेके निमित्त गृहस्थोंको पर्वके दिन उपवास व्रतकी गुरु-चरणोंमें जाकर धारणा करना चाहिए । तदनन्तर अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे सकुचित कर अपने आत्मस्वरूपका विचार करे । सर्व प्रकारसे आरम्भ, अहकार आदि पाप-योगको और चतुर्विध आहारको त्यागकर पर्वकी पूर्व रात्रिमें, पर्वके दिन और रातमें और अगले दिनसे मध्याह्नकाल तक सोलह पहर श्री जिनदेवके नामोच्चारणसे बिताकर पहले अतिथिका आहार दानसे सत्कार कर स्वय पारणाको स्वीकार करे ।।१-४।।

भावार्थ – इस श्लोकमे सोलह पहरवाले उत्कृष्ट प्रोषधोपवासकी विधि बतलाई गई है । अष्टमी और चतुर्दशीके पूर्व सप्तमी और त्रयोदशीको एकाशन करने पश्चात् गुरुके समीप जाकर उपवासकी धारणा करनी चाहिए । उसके पश्चात् उस दिन के मध्याह्नकालसे लगाकर नवमी और पूर्णिमाके मध्याह्नकाल

तक सोलह पहर धर्मध्यान पूर्वक बितावे। पीछे अतिथिको आहार करा करके स्वय पारणा करे।

घनघोरसन्तमसगात्री-यमायाताऽरमहो कलिरात्रिः ॥स्थायी॥
अस्तं गता भास्वतः सत्ता केवलबोधनपात्री।
वनधामिषु सङ्कोचदशा सा षट्चरणास्थितिहात्री-
यमायाताऽरमहो कलिरात्रिः ॥१॥
द्विजवर्गो निष्क्रियतां दृष्ट्वा किं निगदति न आत्वन्।
भीषता अग्रतादिव खेदं जगतो दुरितख्यात्री-
यमायाताऽरमहो कलिरात्रिः ॥२॥
दिग्भ्रममेति न वेत्ति सुमार्गं कथमपि तथा सुयात्री।
किं कर्तव्यविमूढा जाता सकलापीयं धात्री-
यमायाताऽरमहो कलिरात्रिः ॥३॥
भूरास्तां चन्द्रमसस्तमसो हन्त्री शान्तिविधात्री।
सकलजनानां निजवित्तस्य च लुण्टाकेभ्यस्त्रात्री-
यमायाताऽरमहो कलिरात्रिः ॥४॥

अहो बड़ा आश्चर्य है कि देखते ही देखते बहुत ही शीघ्रता से घन-घोर अन्धकारको फैलानेवाली यह कलिकालरूप रात्रि आगई, जहां पर कि आत्माको बल-दायक विद्याका प्रचार करने वाले ज्ञानी महर्षी रूप सूर्यकी सत्ता अस्तगत हो गई है। तथा रात्रिमे जैसे कमल मुद्रित हो जाते हैं और उनपर भौंरे नही रहते, वैसे ही आज श्रावक लोगोंकी संख्या भी बहुत कम हो

गई है। जो थोड़ी बहुत है, वह भी देवपूजा आदि षट् कर्मोंके परिपालनमें उत्साह-रहित हो रहे हैं। जैसे रात्रिमें द्विज-वर्ग (पक्षी-समूह) गमन-सचारादिसे रहित होकर निष्क्रिय बना वृक्षो पर बैठा रहता है, उसी प्रकार इस कलिरूप रात्रिमें द्विजवर्ग (ब्राह्मण-लोग) अपनी धार्मिक क्रियाओंका आचरण छोडकर निष्क्रिय हो रहे है। रात्रिमें जैसे चोरी-जारी आदि पापोंकी वृद्धि होती है और जगत्के खेद, भय आदि बढ़ जाते हैं, वैसे ही आज इस कलिरूप रात्रिमें नाना प्रकारके पापोकी वृद्धि हो रही है और लोग जिन नाना प्रकारके दुःखोंको उठा रहे है, उन्हे मैं आप भाइयोंसे क्या कहूँ ? रात्रिमें पथिक जैसे दिग्भ्रमको प्राप्त हो जाता है और अपने गन्तव्य मार्गको भूल जाता है, वैसे ही आज प्रत्येक प्राणी धर्मके विषयमे दिग्मूढ हो रहा है, सुमार्ग पर किसी भी प्रकारसे नही चल रहा है और यह सारी पृथ्वी ही किकर्त्तव्य-विमूढ़ हो रही है। जैसे रात्रिमे अन्धकारका नाशक और शान्तिका विधायक चन्द्रमाका उदय होता है, वैसे ही आज इस कलिकालरूपी रात्रिमे भी क्वचित् कदाचित् लोगोके अज्ञान को हरनेवाले और धर्मका प्रकाश करनेवाले शान्तिके विधायक शान्तिसागर जैसे आचार्यका जन्म हो जाता है, तो वे ज्ञानरूप धनके लुटेरोसे सकल जनोकी रक्षा करते हैं ॥१-४॥

तदा गत्वा श्मशानं सा पश्यति स्मेति पण्डिता।
एकाकिनं यथाजातं किलाऽऽनन्देन मण्डिता ॥१०॥

उस कृष्णपक्षकी ऐसी घन-घोर अंधेरी रात्रिमें वह पण्डिता दासी स्मशान-भूमिमें गई और वहां पर यथाजात (नग्न)

रूप धारी अकेले सुदर्शनको ध्यानस्थ देखकर अत्यन्त आनन्दित हुई ॥१०॥

नासादृष्टिरथ प्रलम्बितकरो ध्यानैकतानत्वतः
श्रीदेवाद्रिवदप्रकम्प इति योऽप्यक्षुब्धभावं गतः ।
पारावार इव स्थितः पुनरहो शून्ये श्मशाने नग्रा
दास्याऽदर्शि सुदर्शनो मुनिरिव श्रीमान् दृशा सुत्कया ॥११॥

दासीने देखा कि यह श्रीमान् सुदर्शन नासा-दृष्टि रखे, दोनो हाथोको नीचेकी ओर लटकाये, सुमेरुपर्वतके समान अकम्प-भावसे अवस्थित, ध्यानमे निमग्न, क्षोभ-रहित समुद्रके समान गम्भार होकर इस शून्य स्मशानमें मुनिके समान नग्न रूपसे विराजमान है, तो उसके आश्चर्य और आनन्दकी सीमा न रही और वह अति उत्सुकतासे उन्हे देखने लगी ॥११॥

दृष्ट्वाऽवाचि महाशयासि किमिहाऽऽगत्य स्थितः किं तया
वामाङ्ग्या परिभर्त्सितः स्ववपुषः सौन्दर्यगर्विष्ठया ।
हन्ताज्ञा भुवि या भवद्भिधनरं सन्त्यक्तवत्यस्तु सा
त्वय्याऽऽसक्तमना नरेशललना भाग्योदयेनेदृशा ॥१२॥

सुदर्शनको इस प्रकार ध्यानस्थ देखकर वह दासी बोली— हे महाशय, यहा आकर इस प्रकारसे लग-धडग क्यों खड़े हैं ? अपने शरीरके सौन्दर्यसे गर्वको प्राप्त आपकी उस अर्धाङ्गिनीने क्या आपकी भर्त्सना करके घरसे बाहिर निकाल दिया है ?

ओफ्, वह स्त्री महामूर्खा है, जो कि ससारमे अपूर्व सौन्दर्यके धारक आप जैसे सुन्दर पुरुषको भी छोड देती है। किन्तु इस समय अपूर्व भाग्योदयसे यहाके राजाकी रानी आप पर आसक्त-चित्त होकर आपकी प्रतीक्षा का रही है ॥१२॥

यस्या दर्शनमपि सुदुर्लभं लोकानामिति साम्प्रतं शुभम् ।
तव दर्शनमिति साऽभिवाञ्छति भाग्ये तदय पचेलिमे मति ॥१३॥

जिस रानीका दर्शन होना भी लोगोको अति दुर्लभ है, वही रानी आज तुम्हारे भाग्यके प्रबल परिपाकसे तुम्हारे दर्शन करनेकी इच्छा कर रही है ॥१३॥

किमु शर्करिले वससि हतत्वाद् व्रज नृपसौधं नयामि च त्वाम् ।
दुग्धाब्धिवदुज्ज्वले तथा कं शयानकेऽभयमत्या साकम् ॥१४॥

हे महानुभाव, हताश होकर इस कण्टकाकीर्ण कंकरीले स्थान पर क्यों अवस्थित हैं? चलो, मैं तुम्हें राज-भवनमे ले चलती हूँ। वहां पर आप क्षीर सागरके समान उज्ज्वल कोमल शय्या पर अभयमती रानीके साथ आनन्दका अनुभव करें ॥१४॥

इत्यादिकामोदयकृन्न्यगादि कृत्वा तथाऽऽलिङ्गनचुम्बनादि ।
मनाङ् न चित्तेऽस्यपुनर्विकारस्ततस्तयाऽकार्यसकौ विचारः ॥१५॥

इत्यादि प्रकारसे काम-भावको जागृत करनेवाली अनेक बातें उस दासीने कहीं और उनका आलिंगन-चुम्बनादिक भी

किया। किन्तु उस सुदर्शनके चित्तमें जरासा भी विकार भाव उदित नही हुआ। तब हारकर अन्तमें उसने उन्हें राज-भवनमें ले जानेका विचार किया ॥१५॥

श्मशानतो नग्नतया लसन्तं ध्यानैकतानेन तथा वसन्तम् ।
सोपाहरत्तं शयने तु राज्ञ्या यथा तदीया परिवारिताऽऽज्ञा ॥१६॥

ध्यानमें एकाग्रतासे निमग्न, नग्नरूपसे अवस्थित उस सुदर्शनको अपनी पीठ पर लादकर वह दासी श्मशानसे उन्हें उठा लाई और जैसी कि रानीकी आज्ञा थी, उसने तदनुसार सुदर्शनको रानीके पलंग पर लाकर लिटा दिया ॥१६॥

सुदर्शनं समालोक्यैवाऽऽसीत्सा हर्षमेदुरा ।
महिषी नरपालस्य चातकीवोदिताम्बुदम् ॥१७॥

जैसे चिरकालसे प्यासी चातकी आकाशमें प्रकट हुए नव सजल मेघको देखकर अत्यन्त आनन्दित होती है, उसी प्रकार वह नरपालकी पट्टरानी अभयमती भी सुदर्शनको आया हुआ देखकर अत्यन्त हर्षित हुई ॥१७॥

चन्द्रप्रभ विस्मरामि न त्वाम् ॥स्थायी॥
कौमुदमपि यामि तु ते कृपया कान्तां रजनीं गत्वा ॥१॥
पूर्णाऽऽशास्तु किलाऽपरिपूर्णाऽस्माकमहो तव सत्त्वात् ॥२॥
सदा सुदर्शन, दर्शनन्तु ते सम्भवतान्मम सत्त्वात् ॥३॥
क्षणभूरास्तां न स्वप्नेऽप्युत यत्र न यानि वत त्वाम् ॥४॥

चन्द्रमा जैसी कान्तिके धारक हे सुदर्शन, मैं आपको कभी नहीं भूलती हूं, क्योंकि आपकी कृपासे ही मैं इस सुहावनी रात्रिको प्राप्त कर संसारमें अपूर्व आनन्दको पाती हूं। आपके प्रभावसे ही मुझे कुमुद (रात्रिमे खिलनेवाले कमल) प्राप्त होते हैं। आपके ही प्रसादसे मेरी चिर-अभिलषित आशाएं परिपूर्ण होती हैं। अतएव हे सुदर्शन, आपके सुन्दर दर्शन मुझे सदा होते रहें। मेरा एक क्षण भी स्वप्नमे भी ऐसा न जावे, जब कि मैं आपको न देखूं ॥१-४॥

सुमनो मनसि भवानिति धरतु ॥ स्थायी ॥
समुदारहृदां कः परलोकः, कश्चिदपि न भवतीत्युच्चरतु ॥१॥
परोपकरणं पुण्याय पुनर्न किमिति यथाशक्ति सञ्चरतु ॥२॥
भूतात्मकमङ्गं भूतलके वारिणि बुद्बुदतामनुसरतु ॥३॥
भूराकुलतायाः सम्भूयात्कोऽपि नेति सम्वदतु ॥४॥

हे सोमनस्य, मैं जो कुछ कहती हूं, उसे अपने मनमें स्थान देवें। उदार हृदयवाले लोगोंकी दृष्टिमें परलोक क्या है? कुछ भी नहीं है। फिर इसके लिए क्यों व्यर्थ कष्ट उठाया जाय? दूसरेका उपकार करना पुण्यके लिए माना गया है, फिर यथाशक्ति क्यों न पुण्यके कार्योंका आचरण किया जाय? यह शरीर तो पृथ्वी, जल आदि पंच भूतोंसे बना हुआ है, सो वह जलमें उठे हुए बबूलेके समान विलीनताको प्राप्त होगा। फिर ऐसे क्षण-विनश्वर लोकमें कौन सदा आकुलताको प्राप्त होवे, सो कहो। इसलिए हे प्रियदर्शन, महापुरुषोंको तो सारा

संसार ही अपना मानकर सबको सुखी करनेका प्रयत्न करना चाहिए ॥१-४॥

पंगच्छाभयमतिमिति मुनिराट् ॥ स्थायी ॥
केशपूरकं कोमलकुटिलं चन्द्रमसः प्रततं व्रज रुचिरात् ॥१॥
सुदृढं हृदि कुम्भकमथवरं किन्न यतस्त्वं प्रभवेः शुचिराट् ॥२॥
तावदनूरुसादितः सुभगाद् रेचय रेतः सुखिताऽस्तु चिरात् ॥३॥
भूरायामस्य प्राणानामित्येवं त्वं भवतादचिरात् ॥४॥

हे मौन धारण करनेवाले मुनिराज, यदि आपको प्राणायाम करना ही अभीष्ट है, तो इस प्रकारसे करो – पहले निर्भय बुद्धि होकर चन्द्रस्वरसे पूरक योग किया जाता है, अर्थात् बाहिर से शुद्ध वायुको भीतर खीचा जाता है। पुनः कुम्भकयोग-द्वारा उस वायुको हृदयमे प्रयत्नपूर्वक रोका जाता है, जिससे कि हृदय निर्मल और दृढ़ बने। तत्पश्चात् अनूरुसारथीवाले सूर्य नामक स्वरसे धीरे-धीरे उस वायुको बाहिर निकाला जाता है अर्थात् वायुका रेचन किया जाता है। यह प्राणायामकी विधि है। सो हे पवित्रताको धारण करनेवाले शुद्ध मुनिराज, आप अब निर्भय होकर इस अभयमतीके साथ प्रेम करो, जिसके चन्द्रसमान प्रकाशमान मुख-मण्डलके पासमें मस्तक पर कोमल और कुटिलरूप केश-पूरक (वेणीबन्ध) बना हुआ है, उसे पहले ग्रहण करो। तत्पश्चात् कुम्भका अनुकरण करनेवाले, वक्षःस्थल पर अवस्थित सुदृढ़ उन्नत कुच-मण्डलका आलिंगन करो। पुनः जघनस्थलके सुभग मदन-मन्दिरमें चिरकाल तक सुखमयी सुषुप्ति

का अनुभव करते हुए अपने वीर्यका रेचन करो। यही सच्चे प्राणायामकी विधि है, सो हे मौन-धारक सुदर्शन, तुम निर्भय होकर इस अभयमतीके साथ चिरकाल तक प्राणोंको आनन्द देनेवाला प्राणायाम करो ॥१-४॥

कुचौ स्वकीयौ विवृतौ तयाऽतः रतेरिवाक्रीडधरौ स्म मातः ।
निधानकुम्भाविव यौवनस्य पारप्लवौ कामसुधारसस्य ॥१८॥

इस प्रकार कहकर उस रानीने अपने दोनों स्तन वस्त्र-रहित कर दिये, जो कि रतिदेवीके क्रीड़ा करनेके दो पर्वतके समान प्रतीत होते थे, अथवा यौवनरूप धन-सम्पदासे भरे हुए दो कुम्भ-सरीखे शोभित होते थे, अथवा कामरूप अमृतरसके दो पिण्डसे दिखाई देते थे ॥१८॥

वापीं तदा पीनपुनीतजानुर्गभीरगर्तैकरसां तथा नुः ।
यूनो दृगाप्लावनहेतवे तु विकासयामास रतीशकेनुः ॥१९॥

यौवन-अवस्थाके कारण जिसकी दोनो जघाए हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर थी, ऐसी कामदेवकी पताकाके समान प्रतीत होने वाली उस रानीने गम्भीरतारूप रससे परिपूर्ण अपनी नाभिको प्रगट करके दिखाया, जो कि कामी युवक जनोके नेत्रोको मंगल-स्नान करानेके लिए रस-भरो वापिका-सी दिख रही थी ॥१९॥

अभीष्टसिद्धेः सुतरामुपायस्तथाऽस्य कामोदयकारणाय ।
अकारि निर्लज्जतया तया तु नाहो कुलीनत्वमधारि जातु ॥२०॥

तत्पश्चात् अपने अभीष्टको सिद्ध करनेके लिए, तथा सुदर्शनके मनमें काम-भावको जागृत करनेके लिए जो भी उपाय उसके ध्यानमें आया, उसने निर्लज्ज होकर उसे किया, सुदर्शनको उत्तेजित करनेके लिए कोई कोर-कसर न उठा रक्खी। अपनी कुलीनताको तो वह कामान्ध रानी एक दम भूल गई ॥२०॥

प्राकाशि यावत्तु तयाऽथवाऽऽगः प्रयुक्तये साम्प्रतमङ्गभागः।
तथा तथा प्रत्युत सम्विरागमालब्धवानेव समर्त्यनागः ॥२१॥

इस प्रकार पापका सचय करनेके लिए वह रानी जैसे-जैसे अपने स्तन आदि अंगोंको प्रकट करती जा रही थी, वैसे-वैसे ही वह पुरुषशिरोमणि सुदर्शन रागके स्थान पर विराग-भावको प्राप्त हो रहा था ॥२१॥

मदीयं मांसलं देहं दृष्ट्वेयं मोहमागता।
दुरन्तदुरितेनाहो चेतनाऽस्याः समावृता ॥२२॥

रानीको यह खोटी प्रवृत्ति देखकर सुदर्शन विचारने लगे— मेरे हृष्ट-पुष्ट मासल शरीरको देखकर यह रानी मोहित हो रही है? अहो, घोर पापके उदयसे इसकी चेतना शक्ति बिलकुल आवृत हो गई है — विचारशक्ति लुप्त हो गई है ॥२२॥

शरीरमेतन्मलमूत्रकुण्डं यत्पूतिमांसास्थिवसादिकुण्डम्।
उपर्युपात्तं ननु चर्मणा तु विचारहीनाय परं विभातु ॥२३॥

यह मानव-शरीर तो मल-मूत्रका कुण्ड है और दुर्गन्धित मांस, हड्डी, चर्बी आदि घृणित पदार्थोंका पिण्ड है। केवल ऊपर

से इस चमकीले चमड़ेके द्वारा लिपटा है, इसलिए विचार-शून्य मूर्ख लोगोंको सुन्दर प्रतीत होता है ॥२३॥

स्त्रिया मुखं पद्मरुखं ब्रुवाणा भवन्ति किन्नाथ विदेकशाणा ।
लालाविलं शोणितकोषितत्वान्न जातु रुच्यर्थमिहैमि तत्त्वात् ॥२४॥

हे नाथ, जो लोग स्त्रीके मुखको कमल-सदृश वर्णन करते है, वे क्या विवेककी कसौटीवाले हैं ? नहीं । यह मुख तो लारसे भरा हुआ है, केवल रक्तके संचारसे ऊपर चमकीला दिखाई देता है । मैं तो तत्त्वतः इसमें ऐसी कोई उत्तमता नही देखता हूं कि जिससे इसमें रमनेकी इच्छा करूं ॥२४॥

कालोपयोगेन हि मांसवृद्धी कुचच्छलात्तत्र समात्तगृद्धिः ।
पीयूषकुम्भाविति हन्त कामी वदत्यहो सम्प्रति किम्वदामि ॥२५॥

स्त्रीके शरीरमे कालके सयोगमे वक्षःस्थल पर जो मासकी वृद्धि हो जाती है, उन्हें ही लोग कुच या स्तन कहने लगते हैं । अत्यन्त दुःखको बात है कि उनमे आसक्तिको प्राप्त हुआ कामी पुरुष उन्हे 'अमृत-कुम्भ' कहता है । मैं उनकी इस कामान्धता-परिपूर्ण मूर्खता पर अब क्या कहूँ ॥२५॥

स्त्रिया यदङ्गं समवेत्य गूढमानन्दितः सम्भवतीह मूढः ।
विलोपमं तत्कलिलोक्ततन्तु दौगन्ध्ययुक्तं कृमिभिर्भृतन्तु ॥२६॥

इस ससारमें स्त्रीके जिस गूढ़ (गुप्त) अंगको देखकर मूढ़ मनुष्य आनन्दित हो उठता है: वह तो वास्तवमें सर्पके बिलके

समान है, जो सदा ही सड़े हुए क्लेदसे व्याप्त, दुर्गन्ध-युक्त और कृमियोंसे भरा हुआ रहता है ॥२६॥

स्रवन्मलस्रावि नवप्रवाहं शरीरमेतत्समुपैम्यथाऽहम् ।
पित्रोश्च मूत्रेन्द्रियपूतिमूलं घृणास्पदं केवलमस्य तूलम् ॥२७॥

यह शरीर निरन्तर अपने नौ द्वारोमे मलको बहाता रहता है, माता-पिताके रज और वीर्यके सयोगसे उत्पन्न हुआ है, घृणाका स्थान है और इसके गुप्त अग वस्तुतः दुर्गन्ध-मूलक मूत्रेन्द्रियरूप हैं। लोगोने कामान्ध होकर इसे केवल सौन्दर्यका तूल दे रक्खा है। यथार्थमे शरीरके भीतर सौन्दर्य और आकर्षण की कोई वस्तु नही है ॥२७॥

दृष्ट्या याऽपहरेन्मनोऽपि तु धनोद्गीर्ति समायोजने,
वाचां रीतिमिति प्रसङ्गकरणे स्फीर्ति पुनर्मोचने ।
सर्वाङ्गीणमथापकृष्टुमुदिता मर्त्यस्य सारं यतो
मायामूर्तिरनङ्गजूर्तिरिति चेत्मोक्षस्य पूर्तिः कुतः ॥२८॥

जो स्त्री अपनी दृष्टिसे तो मनुष्यके मनको हर लेती है, समायोग होने पर धनका अपहरण करती है, शरीर-प्रसग करने पर वचनोकी रीतिको हरती है और शुक्र-विमोचनके समय शारीरिक स्फूर्त्तिको समाप्त कर देती है। इस प्रकार यह स्त्री मनुष्यके सर्वस्व मन, वचन, धन और तनरूप सारका सर्वाङ्गसे अपकर्षण करनेवाली है, तथा जो मायाकी मूर्त्ति है और कामकी

जूर्त्ति है — काम-ज्वर उत्पन्न करनेवाली है, ऐसी स्त्रीसे मनुष्यके सुखकी पूर्त्ति कैसे हो सकती है, अर्थात् कभी नहीं हो सकती ॥२८॥

हावे च भावे धृतिकन्नदावे राज्ञी क्षमा ब्रह्मगुणैकनावे ।
दुरिङ्गितं भूरि चकार तावन्न तस्य किञ्चिद्विचकार भावम् ॥२९॥

इस प्रकार विचार-युक्त ब्रह्मचर्यरूप अद्वितीय गुणवाली नावमें बैठे हुए सुदर्शनको डिगानेवाले तथा उसके धैर्यरूप सघन वनके जलानेके लिए दावाग्निका काम करनेवाले अनेक प्रकारके हाव-भाव करनेमे समर्थ उस रानीने बहुत बुरी-बुरी चेष्टाए की, किन्तु सुदर्शनके मनको जरा भी विकाररूप नही कर सकी ॥२९॥

यदृच्छयाऽनुयुक्तापि न जातु फलिता नरि ।
तदा विलक्षभावेन जगादेतीश्वरीत्वगी ॥३०॥

अपनी इच्छानुसार निरकुशरूपसे काम-भाव जागृत करने वाले सभी उपायोके कर लेने पर भी जब सुदर्शनके साथ सगम करने मे उसकी कोई भी इच्छा सफल नही हुई, तब वह दुराचारिणी रानी निराशभावसे इस प्रकार बोली ॥३०॥

उत्खातांघ्रिपवद्धि निष्फलमितः सञ्जायते चुम्बितं
पिष्टोपात्तशरीरवच्च लुलितोऽप्येवं न याति स्मितम् ।
सम्मृष्टामरवद्विसर्जनमतः स्याद्धासि अस्योचितं
भिन्नं जातु न मे दृगन्तशरकैश्चेतोऽस्य सम्वर्मितम् ॥३१॥

हे दासी, मेरा चुम्बन उखडे हुए वृक्षके समान इस पर निष्फल हो रहा है, बार-बार गुद-गुदाये जाने पर भी आटेकी पट्टीसे बने हुए शरीरके समान यह हास्यको नहीं प्राप्त हो रहा है, वैराग्यरूप कवचसे सुरक्षित इसका चित्त मेरे तीक्ष्ण कटाक्ष-रूप बाणोंसे जरा भी नहीं भेदा जा सका है, इसलिए हे सखि, खण्डित हुए देव-बिम्बके समान अब इसका विसर्जन करना ही उचित है ॥३१॥

सन्निशम्य वचो राज्ञ्याः पण्डिता खण्डिता हृदि ।
सम्भवित्री समाहाहो विपदासाऽपि सम्पदि ॥३२॥

इस प्रकार कहे गये रानीके वचन सुनकर वह पण्डिता दासी अपने हृदयमें बहुत ही दुखी हुई और विचारने लगी कि मैंने रानीके सुखके लिए जो कार्य किया था, अहो, वह अब दोनों की विपत्तिका कारण हो गया है, ऐसा विचार करती हुई रानी से बोली ॥३२॥

सुभगे शुभगेहिनीतिसत्समयः शेषमयः स्वयं निशः ।
किमु यावकलां कलामये परमस्यापरमस्य हानये ॥३३॥

हे सौभाग्यवती रानीजी, आप उत्तम गृहिणी हैं, स्वयं जरा विचार तो करें, इस समय रात्रि व्यतीत हो रही है और प्रभात-काल हो रहा है, इस समय कौनसी कलामयी बात (करामात) की जाय कि इस विपत्तिसे छुटकारा मिल सके ॥३३॥

सन्निधानमिवाऽऽस्मान्तं यत्नेनैनं निगोपय ।
येन केन प्रकारेण वामारूपेण सञ्जय ॥३४॥

इसलिए अब तो उत्तम निधान (भण्डार) के समान प्रतिभासित होनेवाले इसे यहीं कहीं पर सावधानीके साथ सुरक्षित रखो, या फिर जिस किसी प्रकारसे बलात्कारके द्वारा (त्रिया-चरित फैलाकर) इस आई आपत्तिको जीतनेका प्रयत्न करो ॥३४॥

आव्रजताऽऽव्रजत त्वरितमितः भो द्वाःस्थजनाः कोऽयमघमितः ॥
मुक्तकञ्चुको दंशनशीलः स्वयमसरलचलनेनाधीलः ।
भुजगोऽयं महसाऽभ्यन्तरितः, आव्रजताऽऽव्रजत त्वरितमितः ॥१॥
अरिरूपोऽस्माकं योऽयमनाक्कुसुमन्धयतामभिसर्तुमनाः ।
कामलतामिति गच्छत्यभितः, आव्रजताऽऽव्रजत त्वरितमितः ॥२॥
खररुचिरिन्दुबिन्दुमश्नाति कण्टकेन विद्धेयं जातिः ।
विपयोगोऽस्ति सुधायाः सरितः, आव्रजताऽऽव्रजत त्वरितमितः ॥३॥
निष्कासयताऽविलम्बमेनमिदमस्माकं चित्तमनेन ।
भूराकुलताया भवति हि तदाऽऽव्रजताऽऽव्रजत त्वरितमितः ॥४॥

तब रानीने त्रिया-चरित फैलाना प्रारम्भ किया और जोर-जोरसे चिल्लाने लगी — हे द्वारपाल लोगो! इधर शीघ्र आओ, शीघ्र आओ, देखो — यहां यह कौन सर्परूप भुजग (जार लुच्चा) पापी आगया है, जो मुक्त-कञ्चुक[1] है, दशन-शील[2] है और कुटिल चाल चलनेवाला है। यह महाभुजग

१. सापके पक्षमें काचली रहित, सुदर्शनके पक्षमें वस्त्र-रहित ।
२. काटनेको उद्यत ।

सहसा भीतर आगया है। द्वारपालो, जल्दी इधर आओ और इस बदमाश लुच्चे रूप सर्पको बाहिर निकालो। यह मेरा शत्रु बन कर आया है, जो फूलोंके रसको अभिसरण करनेवाले भौंरेके समान मुझ कामलताके चारों ओर मंडरा रहा है। द्वारपालो, शीघ्र इधर आओ और इसे बाहिर निकालो। जैसे तीक्ष्ण किरणोंवाला सूर्य चन्द्रमाकी कान्ति-बिन्दुको खा डालता है, उसी प्रकार यह मेरी चन्द्र-तुल्य मुख-आभाको खानेके लिए उद्यत है, जैसे चमेली काटोंसे विधकर दुर्दशाको प्राप्त होती है, वैसे ही मैं भी इसके नख रूप काटोंसे वेधी जारही हूँ और अमृतकी सरिता में विषके सयोगके समान इसका मेरे साथ यह कुसयोग होने जा रहा है, सो हे द्वारपालो, शीघ्र इधर आओ और इसे अविलम्ब यहाँसे निकालो। इसके द्वारा हमारा चित्त अत्यन्त आकुल-व्याकुल हो रहा है ॥१-४॥

राज्या इदं पूत्करणं निशम्य भटैरिहाऽऽगत्य धृतो द्रुतं यः।
राज्ञोऽग्रतः प्रापित एवमेतैः किलाऽऽलपद्भिर्बहुशः समेतैः ॥३५॥

रानीकी इस प्रकार करुण पुकारको सुनकर बहुतसे सुभट लोग दौड़े हुए आये और सुदर्शनको पकड कर नाना प्रकारके अपशब्द कहते हुए वे लोग उसे राजाके आगे ले गये ॥३५॥

अहो धूर्तस्य धौर्त्यं निभालयताम् ॥ स्थायी ॥
हस्ते जपमाला हृदि हाला स्वार्थकृतोऽसौ वञ्चकता ॥१॥
अन्तो भोगभुगुपरि तु योगो बकवृत्तिव्रतिनो नियता ॥२॥

दर्पवतः सर्पस्येवास्य तु वक्रगतिः सहसाऽवगता ॥३॥
अघभू राष्ट्रकण्टकोऽयं खलु विपदे स्थितिरस्याभिमता ॥४॥

सुदर्शनको राजाके आगे खड़ाकर सुभट बोले – अहो, इस धूर्त्तकी धूर्त्तता तो देखो – जो यह हाथमे तो जपमाला लिए है और हृदयमें भारी हालाहल विष भरे हुए है। अपने स्वार्थ-पूर्तिके लिए इसने कैसा बकपना (ठगपना) धारण कर रक्खा है ? यह ऊपरसे बगुलेके समान योगी व्रती बन रहा है और अन्तरगमे इसके भोग भोगनेकी प्रबल लालसा उमड़ रही है। विषके दर्पसे फुंकार करनेवाले सर्पके समान इसकी कुटिल गति का आज सहसा पता चल गया है। यह पापी सारे राष्ट्रका कण्टक है। इसका जीवित रहना जगत्की विपत्तिके लिए है ॥१-४॥

राजा जगाद न हि दर्शनमस्य मे स्या-
देतादृशीह परिणामवतोऽस्ति लेश्या।
चाण्डाल एव स इमं लभतामिदानीं
राज्ये ममेदृगपि धिग्दुरितैकधानी ॥३६॥

सुभटोंकी बात सुनकर राजा बोला – मैं ऐसे पापीका मुख नही देखना चाहता। ओफ्, ऊपरसे सभ्य दिखनेवाले इस दुष्टके परिणामोंमें ऐसी खोटी लेश्या है – दुर्भावना है ? अभी तुरन्त इसे चाण्डालको सौंपो, वही इसकी खबर लेगा। मेरे राज्यमें भी ऐसे पापी लोग बसते हैं ? मुझे आज ही ज्ञात हुआ है। ऐसे नीच पुरुषको धिक्कार है ॥३६॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ॥
तेन प्रोक्तसुदर्शनस्य चरिते व्यत्येत्यसौ सत्तमः
राज्ञः श्रेष्ठिवराय कोपविधिवाक् सर्गः स्वयं सप्तमः ॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरीदेवीसे उत्पन्न हुए वाणीभूषण, बालब्रह्मचारी प० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर-विरचित इस सुदर्शनोदय काव्यमें राजा-द्वारा सुदर्शन सेठको मारनेकी आज्ञा दी जानेका वर्णन करनेवाला सातवां सर्ग समाप्त हुआ।



अथ अष्टमः सर्गः

अन्तःपुरं द्वाःस्थनिरन्तरायि सुदर्शनः प्रोषधसम्नियधायी ।
विज्ञैरवाचीत्यघटः प्रयोगः स्यादत्र कश्चित्त्वपरो हि रोगः ॥१॥

जब उपर्युक्त घटना नगर-निवासियोंने सुनी तो कितने ही जानकार लोगोंने कहा – अन्तःपुर पर तो निरन्तराय द्वारपालों का पहरा रहता है, और सुदर्शन सेठ पर्वोके दिन प्रोषधोपवास धारण कर स्मशानमें रहता है, फिर यह अघटनीय घटना कैसे घट सकती है ? इसमें तो कोई दूसरा ही रोग (रहस्य) प्रतीत होता है ॥१॥

श्मसानमासाद्य कुतोऽपि सिद्धिरुपार्जिताऽनेन सुमित्र विद्धि ।
कः कामबाणादतिवर्तितः स्यादित्थं परेण प्रकृता समस्या ॥२॥

विज्ञजनोंका उक्त वक्तव्य सुनकर कोई मनचला व्यक्ति बोला – मित्र, ऐसा प्रतीत होता है कि स्मशानमे रहकर सुदर्शनने किसी तपस्याविशेषसे कोई सिद्धि प्राप्त कर ली है और उसके द्वारा यह अन्तःपुर में पहुंच गया है। यह तुम सत्य समझो, क्योंकि इस संसारमें कामके बाणोंसे कौन अछूता रह

सकता है । इस प्रकार किसी पुरुषने प्रकृत समस्याका समाधान किया ॥२॥

मनाङ् न भूपेन कृतो विचारः कच्चिन्महिष्याश्च भवेद्विकारः ।
चेष्टा स्त्रियां काचिदचिन्तनीयाऽवनाविहान्यो निजगौ महीयान् ॥

उस पुरुषकी बातको सुनकर तीसरा समझदार व्यक्ति बोला – राजाने इस घटना पर जरासा भी विचार नहीं किया कि कहीं यह रानीका ही कोई षड्यन्त्र न हो (और विना विचारे ही सुदर्शनको मारनेकी आज्ञा देदी) । इस संसारमे स्त्रियोंकी कितनी ही चेष्टाएँ अचिन्तनीय होती हैं ॥३॥

विचारजाते स्विदनेकरूपे जनेषु वा रोषमितेऽपि भूपे ।
सुदर्शनोऽकारि विकारि हस्ते जानन्ति सम्यग्विभवो रहस्ते ॥४॥

इस प्रकार लोगोमें इधर अनेक रूपसे विचार हो रहे थे और उधर राजाने रोषमे आकर सुदर्शनको मारनेका आदेश दे दिया। लोग कह रहे थे कि इसका यथार्थ रहस्य तो सर्वज्ञ प्रभु ही भली-भांति जानते है ॥४॥

कृतान् प्रहारान् समुदीक्ष्य हारायितप्रकारांस्तु विचारधारा ।
चाण्डालचेतस्युदिता किलेतः सविस्मये दर्शकसञ्चयेऽतः ॥५॥

राजाकी आज्ञानुसार सुदर्शनको मारनेके लिए चाण्डाल द्वारा किये गये तलवारके प्रहार सुदर्शनके गलेमें हाररूपसे

परिणत हुए देखकर दर्शक लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ, और उस चाण्डालके चित्तमें इस प्रकारकी वक्ष्यमाण विचार-धारा प्रवाहित हुई ॥५॥

अहो ममासिः प्रतिपक्षनाशी किलाहिराशीविष आः किमासीत् ।
मृणालकल्पः सुतरामनल्प-तूलोक्ततल्पं प्रति कोऽत्र कल्पः ॥६॥

अहो, आशीविष सर्पके समान प्रतिपक्षका नाश करनेवाली मेरी इस तलवारको आज क्या हो गया ? जो रुईके विशाल गद्दे पर कमल-नालके समान कोमल हार बनकर परिणत हो रही है ? क्या बात है, कुछ समझ नहीं पड़ता ॥६॥

एवं समागत्य निवेदितोऽभूदेकेन भूपः सुतरां रुषोभूः ।
पाषण्डिनस्तस्य विलोकयामि तन्त्रायितत्वं विलयं नयामि ॥७॥

यह सब दृश्य देखनेवाले दर्शकोंमेंसे किसी एक सेवकने जाकर यह सब वृत्तान्त राजासे निवेदन किया, जिसे सुनकर राजा और भी अधिक रोषको प्राप्त हुआ। और बोला – मैं अभी जाकर उस पाखण्डीके तंत्र-पाण्डित्य (टोटा-जादू) को देखता हूँ और उसे समाप्त करता हूं ॥७॥

राज्ञ्याः किल स्वार्थपरायणत्वं विलोक्य भूपस्य च मौढ्यसत्त्वम् ।
धर्मस्य तत्त्वं च समीक्ष्य तावत्सुदर्शनोऽभूदितिकल्टसभावः ॥८॥

इधर सुदर्शन रानीकी स्वार्थ-परायणता और राजाकी मूढ़ताका अनुभव कर एवं धर्मका माहात्म्य देखकर मनमें वस्तु-तत्त्व का चिन्तवन करने लगा ॥८॥

स्वयमिति यावदुपेत्य महीशः मारणार्थमस्यात्तनयी सः ।
सम्बभूव वचनं नभसोऽपि निम्नरूपतस्तत्स्मयलोपि ॥९॥

इतनेमे आकर और सुदर्शनको मारनेके लिए हाथमें तलवार लेकर राजा ज्यों ही स्वय उद्यत हुआ कि तभी उसके अभिमानका नाश करनेवाली आकाश-वाणी इस प्रकार प्रकट हुई ॥९॥

जितेन्द्रियो महानेष स्वदारेष्वस्ति तोषवान् ।
राजन्निरीक्ष्यतामित्थं गृहच्छिद्रं परीक्ष्यताम् ॥१०॥

हे राजन्, यह सुदर्शन अपनी ही स्त्रीमे सन्तुष्ट रहनेवाला महान् जितेन्द्रिय पुरुष है, अर्थात् यह निर्दोष है। अपने ही घरके छिद्रको देखो और यथार्थ रहस्यका निरीक्षण करो ॥१०॥

निशम्येदं महीशस्य तमो विलयमभ्यगात् ।
हृदये कोऽप्यपूर्वो हि प्रकाशः समभूत्तदा ॥११॥

इस आकाश-वाणीको सुनकर राजाका तुरन्त सब अज्ञान-अन्धकार नष्ट हो गया और उसके हृदयमे तभी कोई अपूर्व प्रकाश प्रकट हुआ और वह विचारने लगा ॥११॥

कव्वालीयो राग:—

समस्ति यताऽऽत्मनो नूनं कोऽपि महिमूर्ध्न्यहो महिमा ॥स्थायी॥
न स विलापी न मुद्दापी दृश्यवस्तुनि किल कदापि ।

समन्तात्तत्र विधिशापिन्यदृश्ये स्वात्मनीव हि या ।।समस्ति० १।।
नरोत्तमधीनता यस्मान्न भोगाधीनता स्वस्मात् ।
सुभगतमपक्षिणस्तस्मात् किं करोत्येव माप्यहिमा ।।समस्ति०२।।
न दृक् खलु दोषमायाता मदानन्दा ममा याता ।
क्वापि बाधा ममायाता द्रुमालीवेष्यते सहिमा ।।समस्ति०।।३।।
इयं भूराश्रितास्त्यभितः कण्टकैर्यत्पदो रुदितः ।
स चर्मसमाश्रयो यदितः कुतः स्यात्तस्य वा नहिमा ।।समस्ति० ४।।

अहो, निश्चयसे इस मही-मण्डल पर जितेन्द्रिय महापुरुषों की कोई अपूर्व ही महिमा है, जो इन बाहिरी दृश्य वस्तुओ पर प्रतिकूलताके समय न कभी विलाप करते हैं और न अनुकूलताके समय हर्षित ही होते है । वे तो इस सम्पत्ति-विपत्तिको अदृश्य विधि (दव या कर्म) का शाप समझकर सर्व ओरसे अपने मनका निग्रह कर अपने आत्म-चिन्तनमें निमग्न रहते है । ऐसे पुरुषोत्तम तो भगवद्-भक्तिमें यतः तत्पर रहते हैं, अतः उनके भोगोकी अधीनता नही होती । जैसे पुरुषोत्तम कृष्णके वाहन वैनतेय (गरुड) के आश्रित रहनेवाले जीव भोगो (सर्पों) से अस्पृष्ट रहते हैं । जो अति उत्तम गरुड़रूप धर्मका पक्ष अगीकार करता है, उसका दुर्जनरूप सर्प क्या कर सकता है ? ऐसे धार्मिक पुरुष की दृष्टि किसीके दोष देखनेकी ओर नही जाती, उसका सारा समय सदा आनन्दमय बीतता है । यदि कदाचित् पूर्व पापके उदयसे कोई बाधा आ भी जाय, तो वह वृक्ष पंक्ति पर पड़े हुए पालेके समान सहजमें निकल जाती है । यद्यपि यह सर्व पृथ्वी

कण्टकोसे व्याप्त है, तथापि जिसके चरण चमड़ेकी जूतियोंसे युक्त हैं, उसको उन कांटोंसे क्या बाधा हो सकती है ॥१-४॥

इत्येवं बहुशः स्तुत्वा निपपात स पादयोः ।
आग:संशुद्धये राजा सुदर्शनमहात्मनः ॥१२॥

इस प्रकार बहुत भक्ति-पूर्वक सुदर्शनकी स्तुति करके वह राजा अपने अपराधको क्षमा करानेके लिए महात्मा सुदर्शनके चरणोंमे पड़ गया और बोला ॥१२॥

हे सुदर्शन मया यदुत्कृतं क्षम्यतामिति त्रिमत्युपार्जितम् ।
हृत्तु मोहतमसा समावृतं त्वं हि गच्छ कुरु राज्यमप्यतः ॥१३॥

हे सुदर्शन, मैंने कुबुद्धिके वश होकर जो तुम्हारा अपराध किया है, उसे क्षमा करो । मैं उस समय मोहान्धकारसे समावृत (घिरा हुआ) था । (अब मुझे यथार्थ प्रकाश प्राप्त हुआ है ।) जाओ और आजसे तुम्हीं राज्य करो ॥१३॥

इत्यस्योपरि सञ्जगाद स महान् भो भूप किं भाषसे,
को दोषस्तव कर्मणो मम स वै सर्वे जना यद्वशे ।
श्रीमाज्ञा भवतोचितं च कृतमस्त्येतज्जगद्धे तवे,
दण्डं चेदपराधिने न नृपतिर्दद्यात्स्थितिः का भवेत् ॥१४॥

राजाकी बात सुनकर उस सुदर्शन महापुरुषने कहा – हे राजन्, यह आप क्या कह रहे हैं ? आपका इसमें क्या दोष है ?

यह तो निश्चयसे मेरे ही पूर्वोपार्जित कर्मका फल है, जिसके कि वशमें पड़कर सभी प्राणी कष्ट भोग रहे हैं। आप श्रीमान्‌ने जो कुछ भी किया, वह तो उचित ही किया है और ऐसा करना जगत्‌के हितके लिए योग्य ही है। यदि राजा अपराधी मनुष्यको दण्ड न दे, तो लोककी स्थिति (मर्यादा) कैसे रहेगी ॥१४॥

हे नाथ मे नाथ मनाग्विकारश्चेतस्युतैकान्ततया विचारः।
शत्रुश्च मित्रं च न कोऽपि लोके हृष्यज्जनोऽज्ञो निपतेच्च शोके ॥१५॥

हे स्वामिन्, इस घटनासे मेरे मनमें जरा-सा भी विकार नही है (कि आपने ऐसा क्यों किया ?) मैं तो सदा ही एकान्त-रूपसे यह विचार करता रहता हूं कि इस लोकमे न कोई किसी का स्थायी शत्रु है और न मित्र ही। अज्ञानी मनुष्य व्यर्थ ही किसीको मित्र मानकर कभी हर्षित होता है और कभी किसीको शत्रु मानकर शोकमे गिरता है ॥१५॥

लोके लोकः स्वार्थभावेन मित्रं नोचेच्छत्रुः सम्भवेन्नात्र चित्रम्।
राज्ञी माता मह्यमस्तूक्तकेतू रुष्टः श्रीमान् प्रातिकूल्यं हि हेतुः॥

इस ससारमें लोग स्वार्थ-साधनके भावसे मित्र बन जाते हैं और यदि स्वार्थ-सिद्धि संभव नही हुई, तो शत्रु बन जाते हैं, सो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नही है। (यह तो संसारका नियम ही है।) श्रीमती महारानीजी मेरी माता हैं और श्रीमान् महाराज मेरे पिता हैं। यदि आप लोग मेरे ऊपर रुष्ट हों, तो इसमें मेरे पूर्वोपार्जित पापकर्मका उदय ही प्रतिकूलता का कारण है ॥१६॥

वस्तुतस्तु मदमात्सर्याद्याः शत्रवोऽङ्गिन इति प्रतिपाद्याः ।
तज्जयाय मतिमान् धृतयुक्तिरस्तु सैव खलु सम्प्रति मुक्तिः ॥१७

इसलिए वास्तवमे मद, मात्सर्य आदि दुर्भाव ही जीवोंके यथार्थ शत्रु है, ऐसा समझना चाहिए और उन दुर्भावोंको जीतने के लिए बुद्धिमान् मनुष्यको धैर्य-युक्त होकर प्रयत्न करना चाहिए। यह उपाय ही जीवकी वास्तविक मुक्तिका आज सर्वोत्तम मार्ग है ॥१७॥

सुखं च दुःखं जगतीह जन्तोः स्वकर्मयोगाद् दुरितार्थमन्तो ।
मिष्टं सितास्वादन आस्यमस्तु तिक्तायते यन्मरिचाशिनस्तु ॥१८

हे दुरित-(पाप-) विनाशेच्छुक महाराज, इस जगत्में जीवों के सुख और दुःख अपने ही द्वारा किये कर्मके योगसे प्राप्त होते है। देखो मिश्रीका आस्वादन करने पर मुख मीठा होता है और मिर्च खानेवालेका मुख जलता है ॥१८॥

विज्ञो न सम्पत्तिषु हर्षमेति विपत्सु शोकं च मनागथेति ।
दिनानि अत्येति तटस्थ एव स्वशक्तितोऽसौ कृततीर्थसेवः ॥१९॥

संसारका ऐसा स्वभाव जानकर ज्ञानी जन सम्पत्तियोंके आने पर न हर्षको प्राप्त होता है और न विपत्तियोंके आनेपर रंचमात्र भी शोकको प्राप्त होता है। किन्तु वह दोनों ही अवस्थाओंमें मध्यस्थ रहकर अपने जीवनके दिन व्यतीत करता है और अपनी शक्तिके अनुसार धर्मरूप तीर्थकी सेवा करता रहता है ॥१९॥

यद्वा निशाऽह्नःस्थितिवद्विपत्ति सम्पत्तियुग्मं च समानवृत्ति ।
सतां प्रवृत्तिः प्रकृतानुरागा सन्ध्येव वन्ध्येव विभूतिभागात् ॥२०॥

अथवा जैसे रात्रि और दिनके बीचमें रहनेवाली सन्ध्या सदा एक-सी लालिमाको धारण किये रहती है, उसी प्रकार सज्जनोंकी प्रवृत्ति भी सम्पत्ति और विपत्ति इन दोनोंके मध्य समान भावको धारण किये रहती है। वह एकमें अनुराग और दूसरेमें विराग-भावको प्राप्त नहीं होती ॥२०॥

मोहादहो पश्यति बाह्यवस्तुन्यङ्गीति सौख्यं गुणमात्मनस्तु ।
अमाद्यथाऽऽकाशगतेन्दुबिम्बमङ्गीकरोति प्रतिवारि डिम्बः ॥२१॥

अहो आश्चर्य है कि सुख जो अपनी आत्माका गुण है, उसे यह ससारी प्राणी मोहके वश होकर बाहिरी वस्तुओमे देखता है ? अर्थात् बाहिरी पदार्थोंमे सुखकी कल्पना करके यह अज्ञ प्राणी उनके पीछे दोड़ता रहता है। जैसे कोई भोला बालक आकाश-गत चन्द्रबिम्बको भ्रमसे जलमें अवस्थित समझकर उसे पकड़नेके लिए छटपटाता रहता है ॥२१॥

धरा पुरान्यैरुररीकृता वाऽसकाविदानीं भवता धृता वा ।
स्वदारसन्तोषवतो न भोग्या ममाधुना निर्वृतिरेव योग्या ॥२२॥

और महाराज, आपने जो मुझे इस राज्यको ग्रहण करनेके लिए कहा है, सो इस पृथ्वीको पूर्वकालमें अन्य अनेकों राजाओंने अंगीकार किया है, अर्थात् भोगा है और इस समय

आप इसको भोग रहे हैं, इसलिए स्वदार सन्तोष व्रतके धारण करनेवाले मेरे यह भोगने-योग्य नहीं है। अब तो निवृत्ति (मुक्ति) ही मेरे योग्य है ॥२२॥

इत्युपेक्षितसंसारो विनिवेद्य महीपतिम् ।
जगाम धाम किञ्चासौ निवेदयितुमङ्गनाम् ॥२३॥

इस प्रकार राजासे अपना अभिप्राय निवेदन कर संसारसे उदासीन हुआ वह सुदर्शन अपना अभिप्राय अपनी जीवन-संगिनी मनोरमासे कहनेके लिए अपने घर गया ॥२३॥

माया महतीयं मोहिनी भवभाजोऽहो माया ॥स्थायी॥
भवति प्रकृतिः समीक्षणीया यद्वशगस्य सदाया ।
निष्फललतेव विचाररहिता स्वल्पपल्लवच्छाया ॥
दुरितसमारम्भप्राया ॥ माया महतीयं० ॥१॥
यामवाप्य पुरुषोत्तमः स्म संशेतेऽप्यहिशय्याम् ।
कृतकं सभयं सततमिङ्गितं यस्य बभूव धरायाम् ॥
इह सत्याशंसा पायात् ॥ माया महतीयं० ॥२॥
उमामवाप्य महादेवोऽपि च गत्वाऽपत्रपतायाम् ।
किमिह पुनर्न बभूव विषादी स्थानं पशुपतितायाः ॥
अकृतविभूतित्वोपायात् ॥ माया महतीयं० ॥३॥
अपवर्गस्य विरोधकारिणी जनिभूराकुलतायाः ।
जलधीश्वरनन्दिनी प्रसिद्धा कमलवासिनी वा या ॥
प्रतिनिषेधिनी सत्तायाः ॥ माया महतीयं० ॥४॥

मार्गमें जाते हुए सुदर्शन विचारने लगा – अहो यह जगत् की मोहिनी माया ससारी जीवोंको बहुत बडी निधि-सी प्रतीत होती है ? जो पुरुष इस मोहिनी मायाके वशको प्राप्त हो जाता है, उसकी प्रकृति बडी विचारणीय बन जाती है। जैसे पाला-पडी हुई लता फल-रहित, पक्षि-सचार-विहीन और अल्प पत्र वा अल्प छायावाली हो जाती है, उसी प्रकार मोहिनी मायाके जालमे पडे हुए प्राणीकी प्रवृत्ति भी निष्फल, विचार-शून्य, स्वल्प सुकृतवाली एव पाप-बहुल समारम्भवाली हो जाती है। देखो – इस मोहिनी मायारूप लक्ष्मीको पाकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भी नागशय्या पर सोये, जो कि कंसके संहारक थे, जिनके कि एक इशारे मात्रसे इस धरातल पर बडेसे बडे योद्धा भी भयभीत हो जाते थे और सत्यभामा जैसी सती पट्टरानीको दु:ख भोगना पडा। जब इस मायाके योगसे श्रीकृष्णकी ऐसी दशा हुई, तो फिर अन्य लोग यदि इसके सयोगसे बनावटी चेष्टावाले, भयभीत और सत्यके पक्षसे रहित हो जावें, तो इसमें क्या आश्चर्य है। जिस मायामें फंसकर महादेवजी अपने शरीरमें भस्म लगाकर पशुपतिपनेको प्राप्त हो गये, विषको खाया और निर्लज्जता अंगीकार कर पार्वतीसे रमण करने लगे, तो फिर अन्य जनोंकी तो बात ही क्या है ? यह माया अपवर्ग (मोक्ष) का विरोध करनेवाली है, आकुलताको उत्पन्न करनेवाली है, जड़बुद्धि जलधीश्वर (समुद्र) की पुत्री है और कमल-निवासिनी है, अर्थात् क (आत्मा) के मल जो राग-द्वेषादि विकारी भाव हैं, उनमें रहनेवाली है, एव सज्जनताका विनाश करनेवाली है।

ऐसी यह संसारकी माया है। (मुझे अब इसका परित्याग करना ही चाहिए) ॥१-४॥

एवं विचिन्तयन् गत्वा पुनरात्मरमां प्रति ।
सूक्तं समुक्तवानेवं तत्र निम्नोदितं कृती ॥२४॥

इस प्रकार चिन्तवन करता हुआ वह कृती सुदर्शन घर पहुँच कर अपनी प्राणप्रिया मनोरमाके प्रति ये निम्नलिखित सुन्दर वचन बोला ॥२४॥

अर्धाङ्गिन्या त्वया सार्धं हे प्रिये रमितं बहु ।
अधुना मन्मनःस्थाया ऋतुकालोऽस्ति निर्वृतेः ॥२५॥

हे प्राणप्रिये, आज तक मैंने तेरी जैसी मनोहारिणी अर्धाङ्गिनीके साथ बहुत सुख भोगा। किन्तु अब मेरे मनमें निवास करनेवाली निर्वृत्ति (मुक्तिलक्ष्मी) रूप जीवन-सहचरीका ऋतु-काल आया है ॥२५॥

निशम्येदं भद्रभावात् स्वप्राणेश्वरभाषितम् ॥
मनोरमापि चतुरा समाह समयोचितम् ॥२६॥

अपने प्राणेश्वरके उपर्युक्त वचन सुनकर वह चतुर मनोरमा भी अत्यन्त भद्रताके साथ इस प्रकार समयोचित वचन बोली ॥२६॥

प्राणाधार भवांस्तु मां परिहरेत्सम्बाञ्छया निर्वृतेः,
किन्त्वानन्दनिबन्धनस्त्वदपरः को मे कुलीनस्थितेः ।

नाहं त्वत्सहयोगमुज्झितुमलं ते या गतिः सैव मेऽ-
स्त्वार्याभूयतया चरानि भवतः सान्निध्यमस्मिन् क्रमे ॥२७॥

हे प्राणाधार, आप तो मुक्तिलक्ष्मीकी वाञ्छासे मेरा परित्याग करनेको तैयार हो गये, किन्तु मुझ कुलीन-वंशजा नारीके लिए तो तुम्हारे सिवाय आनन्दका कारण और कौन पुरुष हो सकता है ? इसलिए मैं तुम्हारे सहयोगको छोड़नेके लिए समर्थ नहीं हूं। तुम्हारी जो गति, सो ही हमारी गति होगी, ऐसा मेरा निश्चय है। यदि आप साधु बनने जा रहे हैं, तो मैं भी आपके चरणोंके समीप ही आर्यिका बनकर विचरण करूंगी ॥२७॥

सम्फुल्लतामितोऽनेन वदने करयोरपि ।
सुदर्शनः पुनः प्रीत्या जगाम जिनमन्दिरम् ॥२८॥

मनोरमाके ऐसे प्रेम-परिपूर्ण दृढ-निश्चयवाले वचन सुनकर अत्यन्त प्रफुल्लित मुख होकर वह सुदर्शन अपने दोनों हाथोंमें पुष्प लेकर प्रसन्नतापूर्वक भगवान्‌की पूजन करनेके लिए जिन-मन्दिर गया ॥२८॥

जिनयज्ञमहिमा ख्यातः ॥ स्थायी ॥
मनोवचनकायैर्जिनपूजां प्रकुरु ज्ञानि भ्रातः ॥१॥
मुदाऽऽदाय भेकोऽम्बुजकलिकां पूजनार्थमायातः ॥२॥
गजपादेनाध्वनि मृत्वाऽसौ स्वर्गसम्पदां यातः ॥३॥
भूरानन्दस्य यथाविधि तत्कर्ता स्यात्किन्नु नातः ॥४॥

अहो ज्ञानी भाई, जिन-पूजनकी महिमा संसारमें प्रसिद्ध है, अतएव मन, वचन, कायसे जिन-पूजन करनी चाहिए। देखो-(राजगृह नगरमें जब महावीर भगवान्‌का समवसरण आया और राजा श्रेणिक हाथी पर सवार होकर नगर-निवासियोंके साथ भगवान्‌की पूजनके लिए जा रहे थे, तब) प्रमोदसे एक मेंढक कमलकी कलीको मुखमे दाबकर भगवान्‌की पूजनके लिए चला, किन्तु मार्गमें हाथीके पैरके नीचे दबकर मर गया और स्वर्ग-सम्पदाको प्राप्त हुआ। जब मेंढक जैसा एक क्षुद्र प्राणी भी पूजनके फलसे स्वर्ग-लक्ष्मीका भोक्ता बना, तब जो भव्यजन विधिपूर्वक जिन-पूजनको करेगा, वह परम आनन्दका पात्र क्यों नही होगा ? अतएव हे ज्ञानो जनो, मन वचन कायसे जिन-पूजनको करो ॥१-४॥

जिनेश्वरस्याभिषवं सुदर्शनः प्रसाध्य पूजां स्तवनं दयाधनः ।
अथात्र नाम्ना विमलस्य वाहनं ददर्श योगीश्वरमात्मसाधनम् ॥

दयारूप धनके धारण करनेवाले उस सुदर्शनने जिन-मंदिर में जाकर जिनेश्वर देवका अभिषेक किया, भक्तिभावसे पूजन और स्तवन किया। तदनन्तर उसने जिन-मन्दिरमें ही विराज-मान, आत्म-साधन करनेवाले विमलवाहन नामके योगीश्वरको देखा ॥२६॥

चातकस्य तनयो घनाघनमपि निधानमथवा निःस्वजनः ।
मुनिमुदीक्ष्य मुमुदे सुदर्शन इन्दुबिम्बमिव तत्र खञ्जनः ॥३०॥

उन मुनिराजके दर्शन कर वह सुदर्शन इस प्रकार अति हर्षित हुआ, जिस प्रकार कि चातक-शिशु महामेघको देखकर, अथवा दरिद्र जन अकस्मात् प्राप्त निधान (धनसे भरे घड़े) को देखकर और चकोर पक्षी चन्द्र-बिम्बको देखकर अत्यन्त प्रसन्न होता है ॥३०॥

शिरसा सार्धं च स्वयमेनः समर्पितं मुनिपदयोस्तेन ।
दृग्भ्यां समं निबद्धौ हस्तौ कृत्वा हृद् गिरमपि प्रशस्तौ ॥३१॥

उस सुदर्शनने मुनिराजके चरणोंमें भक्ति-पूर्वक मस्तकको रखकर नमस्कार किया। उसने उनके चरणोंमें अपना मस्तक ही नही रखा, बल्कि उसके साथ अपने हृदयका समस्त पाप भी स्वयं समर्पित कर दिया। पुनः अपने दोनों हाथ जोड़कर दोनों नयनोंके साथ उन्हें भी मुनिराजके दोनो चरणोंमें सलग्न कर दिया और शुद्ध हृदयसे प्रशस्त वाणी-द्वारा उनकी स्तुति की ॥३१॥

समाशास्य यतीशानं न चाशाऽस्य यतः क्वचित् ।
पुनः स चेलालङ्कारं निश्चेलाचारमभ्यगात् ॥३२॥

यतः इस सुदर्शनके हृदयमें किसी भी सांसारिक वस्तुके प्रति आशा (अभिलाषा) नही रह गई थी, अतः उसने इला- (पृथ्वी-) के अलकार-स्वरूप उन यतीश्वरकी भली-भातिसे स्तुति कर स्वयं निश्चेल आचारको धारण किया, अर्थात् वह दिगम्बर मुनि बन गया ॥३२॥

छायेव तं साऽप्यनुवर्तमाना तथैव सम्पादितसन्निधाना ।
तस्यैव साधोर्वचसः प्रमाणाज्जनी जनुःसार्थमिति ब्रुवाणा ॥३३॥

सुदर्शनके साथ वह मनोरमा भी छायाके समान उसका अनुकरण करती रही और उसके समान ही उसने भी उसीके साथ अभिषेक, पूजन, स्तवन आदिके सर्व विधान सम्पादित किये । पुनः सुदर्शनके मुनि बन जाने पर उन्ही योगिराजके वचनोंको प्रमाण मानकर उसने भी अपने नारी-जन्मको इस प्रकार (आर्यिका) बनकर सार्थक किया ॥३३॥

शुक्लैकवस्त्रं प्रतिपद्यमाना परं समस्तोपधिमुज्झिहाना ।
मनोरमाऽभूदधुनेयमार्या न नग्नभावोऽयमवाचि नार्याः ॥३४॥

मनोरमाने आर्यिकाके व्रत अंगीकार करते हुए समस्त परिग्रहका त्यागकर एक मात्र श्वेत वस्त्र धारण किया और वह भी सुदर्शनके मुनि बननेके साथ ही आर्यिका बन गई । ग्रन्थकार कहते हैं कि यतः स्त्रीके दिगम्बर दीक्षाका सर्वज्ञदेवने विधान नही किया है, अतः मनोरमाने एक श्वेत वस्त्र शरीर ढकनेके लिए रक्खा और सर्व परिग्रहका त्याग कर दिया ॥३४॥

महिषी श्रुत्वा रहस्यस्फुटिं सन्निधाय निजजीवनत्रुटिम् ।
पाटलिपुत्रेऽभवद् व्यन्तरी प्राक् कदापि शुभभावनाकरी ॥३५॥

इधर अभयमती रानी रहस्य-भेदकी बात सुनकर अपने जीवनका अपघात करके मरी और पहले कभी शुभ भावना करनेके फलसे पाटलिपुत्र (पटना) नगरमें व्यन्तरी देवी हुई ॥३५॥

दासी समासाद्य च देवदत्तां वेश्यामसौ तन्नगरेऽभजत्ताम् ।
स्वोक्तितोऽनूद्य तदीयचेतः सुदर्शनोचालनहेतवेऽतः ॥३६॥

रानीके अपघात कर लेने पर वह पण्डिता दासी भी चम्पानगरसे भागी और उसी पाटलिपुत्र नगरमें जाकर वहांकी प्रसिद्ध देवदत्ता वेश्याको प्राप्त हो उसकी सेवा करने लगी । उसने अपने ऊपर बीते हुए सर्व वृतान्तको सुनाकर उस वेश्याका चित्त सुदर्शनको डिगानेके लिए तैयार कर दिया ॥३६॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
तत्सम्प्रोक्तसुदर्शनस्य चरिते सर्गोऽसकावुत्तमो
दम्पत्योरुभयोर्व्यतीतिमुदगाद् दीक्षाविधानोऽष्टमः ॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरी देवीसे उत्पन्न हुए वाणीभूषण, बालब्रह्मचारी पं० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर-विरचित इस सुदर्शनोदय काव्यमे सुदर्शन और मनोरमाकी दीक्षाका वर्णन करनेवाला आठवां सर्ग समाप्त हुआ।



अथ नवमः सर्गः

धरैव शय्या गगनं वितानं स्वबाहुमूलं तदिहोपधानम् ।
रविप्रतीपश्च निशासु दीपः शमी स जीयाद् गुणगह्वरीपः ॥१॥

पृथ्वी ही जिनकी शय्या है, आकाश ही जिनका चादर है, अपनी भुजाएँ ही जिनका तकिया है और रात्रिमें चन्द्रमा ही जिनके लिए दीपक है, ऐसे परम प्रशम भावके धारक, गुण-गरिष्ठ साधुजन चिरकाल तक जीवें ॥१॥

भिक्षैव वृत्तिः करमेव पात्रं नोद्दिष्टमन्नं कुलमात्मगात्रम् ।
यत्रैव तिष्ठेत् स निजस्य देशः नैराश्यमाशा मम सम्मुदे सः ॥२॥

अयाचित भिक्षा ही जिनके उदर-भरणका साधन है; अपना हस्ततल ही जिनके भोजनका पात्र है, जो अनुद्दिष्ट-भोजी हैं, अपना शरीर ही जिनका कुल-परिवार है, जहाँ पर बैठ जाये, वही जिनका देश है, निराशता ही जिनकी आशा या सफलता है, ऐसे साधुजन मेरे हर्षके लिए होवें ॥२॥

अहो गिरेर्गह्वरमेव सौधमरण्यदेशोऽस्य पुरप्रबोधः ।
मृगादयो वा सहचारिणस्तु धन्यः स एवात्मसुखैकवस्तु ॥३॥

अहो, प्रस्तर-प्रदेशमें ही जिन्हें नगरका बोध हो रहा है, गिरिकी गुफाको ही जो भवन मान रहे हैं, मृगादिक वन-चारी जीव ही जिनके सहचारी (मित्र) है, ऐसे सहज आत्म-सुखका उपभोग करनेवाले वे साधु पुरुष धन्य हैं ॥३॥

हारे प्रहारेऽपि समानबुद्धिर्युर्याति सम्पद्विपदोः समृद्धिं ।
मृत्युं पुनर्जीवनमीक्षमाणः पृथ्वीतलेऽसौ जयताद्‌कारणः ॥४॥

जो गलेमे पहिराये गये हारमे और गले पर किये गये तलवारके प्रहारमे समान बुद्धिको रखते है, जो सम्पत्ति और विपत्ति दोनोमे ही हर्षित रहते है, जो मृत्युको नवजीवन मानते है, ऐसे सुदृष्टिवाने साधुजन इस पृथ्वीतल पर सदा जयवन्त रहे ॥४॥

ज्ञानामृतं भोजनमेकवस्तु सदैव कर्मक्षपणे मनस्तु ।
दिशैव वासःस्थितिरस्ति येषां नमामि पादावहमाशु तेषाम् ॥५॥

जिनका ज्ञानामृत ही एकमात्र भोजन है, जिसका मन सदा ही कर्मके क्षपण करनेमें उद्यत रहता है, दशो दिशाए ही जिनके लिए वस्त्रस्वरूप हैं, ऐसे उन साधु-महात्माओके चरणो को मैं शीघ्र ही नमस्कार करता हूं ॥५॥

स्त्रैणं तृणं तुल्यमुपाश्रयन्तः शत्रुं तथा मित्रतयाऽऽह्वयन्तः ।
न काञ्चने काञ्चनचित्तवृत्तिं प्रयान्ति येषामवृथा प्रवृत्तिः ॥६॥
हृषीकसन्निग्रहणैकचित्ताः स्वभावसम्भावनमात्रचित्ताः ।
दिवानिशं विश्वहिते प्रवृत्ता निःस्वार्थतः संयमिनो नुमस्तान् ॥७॥

जो नवयुवती स्त्रियोके परम अनुरागको तृणके समान निःसार समझते हैं, जो शत्रुको भी मित्ररूपसे आह्वानन करते हैं, जो कांचन (सुवर्ण) पर भी अपनी चित्तवृत्तिको कभो नही जाने देते हैं, जिनकी प्रत्येक प्रवृत्ति प्राणिमात्रके लिए कल्याण-रूप है, अपनी इन्द्रियोका भली-भाति निग्रह करना ही जिनका परम धन है, अपने आत्म-स्वभावके निर्मल बनानेमे ही जिनका चित्त लगा रहता है, जो दिन-रात विश्वके कल्याण करनेमे ही निःस्वार्थभावसे सलग्न हैं, ऐसे उन परम सयमी साधुजनोको हमारा नमस्कार है ॥६-७॥

इत्युक्तमाचारवरं दधानः भवन गिरां सन्निषयः सदा नः ।
वनाद्वनं सञ्चचरत्सुवेशः स्वयोगभूत्या पवमान एषः ॥८॥

इस प्रकार ऊपर कहे गये उत्कृष्ट आचारके धारण करने वाले वे सुवेष-धारी सुदर्शन महामुनि अपने योग-वैभवसे जगत्को पवित्र करते हुए वनसे वनान्तरमे विचरण करने लगे । वे सदा काल ही हमारी वाणीके विषय बने रहें, अर्थात् हम सदा ही ऐसे सुदर्शन मुनिराजकी स्तुति करते है ॥८॥

नाऽऽमासमापक्षमुताश्नुवानस्त्रिकालयोगं स्वयमादधानः ।
गिरौ मरौ वृक्षतलेऽथवा नः पूज्यो महात्माऽतपदेकतानः ॥९॥

वे सुदर्शन मुनिराज कभी एक मास और कभी एक पक्षके उपवासके पश्चात् पारणा करते, ग्रीष्म-कालमे गिरि-शिखर पर, शीत-कालमें मरुस्थलमें और वर्षा-कालमें वृक्ष तलमें प्रतिमा-

योगको धारण कर त्रिकाल योगकी साधना करते हुए एकाग्रता से तपश्चरण करने लगे। इसी कारण वे महात्मा सुदर्शन हमारे लिए सदाकाल पूज्य हैं ॥९॥

विपत्रमेतस्य यथा करीरं निश्छायमासीत्सहसा शरीरम् ।
तपोऽनुभावं दधता तथापि तेनामुना सत्फलताऽभ्यवापि ॥१०॥

अनेक प्रकारके घोर परीषह और उपसर्गोंको सहन करता हुआ सुदर्शन मुनिराजका शरीर सहसा थोड़े ही दिनोंमें पत्र-रहित करीर वृक्षके समान छाया-विहीन हो गया। अर्थात् शरीरमे हड्डी और चाम ही अवशिष्ट रह गया। तथापि तपके प्रभावको धारण करनेसे उन्होने अनेक प्रकारकी ऋद्धि-सिद्धियोंकी सफलता इस समय प्राप्त कर ली थी ॥१०॥

इत्येवमत्युग्रतपस्तपस्यन् पुराकृतं स्वस्य पुनः समस्यन् ।
प्रसञ्चरन् वात इवाप्यपापः क्रमादसौ पाटलिपुत्रमाप ॥११॥

इस प्रकार उग्र तपको तपते हुए और अपने पूर्वोपार्जित कर्मको निर्जीर्ण करते हुए वे निष्पाप सुदर्शन मुनिराज पवनके समान विचरते हुए क्रमसे पाटलिपुत्र पहुंचे ॥११॥

चर्यानिमित्तं पुरि सञ्चरन्तं विलोक्य दासी तमुदारसन्तम् ।
सहामुना सङ्गमनाय रूपाजीवां समाहाद्भुतनाभिरूपाम् ॥१२॥

चर्याके निमित्त नगरमे विचरते हुए उस उदार सन्त सुदर्शनको देखकर उस पण्डिता दासीने अद्भुत गम्भीर नाभि-

वाली उस देवदत्ता वेश्याको इस (सुदर्शन) के साथ संगम करने के लिए कहा ॥१२॥

प्रत्यग्रहीत्सापि तमात्मनीनं चैनः क्षपन्तं सुतरामदीनम् ।
निभालयन्तं समरूपतोऽन्यं किं निर्धनं किं पुनरत्र धन्यम् ॥१३॥

आत्म-हितमें संलग्न, पापके क्षय करनेमें उद्यत, स्वयं अदीनभावके धारक और क्या निर्धन और क्या भाग्यशाली धनी, सबको समान भावसे देखनेवाले उन सुदर्शन मुनिराजको उस देवदत्ता वेश्याने पडिगाह लिया ॥१३॥

अन्तः समासाद्य पुनर्जगाद कामानुरूपोक्तिविचक्षणाऽदः ।
किमर्थमाचार इयान् विचार्य बाल्येऽपि लब्धस्त्वकया वदाऽऽर्य ॥

पुनः घरके भीतर लेजाकर काम-चेष्टाके अनुरूप वचन बोलनेमें विचक्षण उस वेश्याने कहा – हे आर्य, इस अति सुकुमार बाल वयमें ही यह इतना कठिन आचार क्या विचार कर आपने अंगीकार किया है, तो बतलाइये ॥१४॥

भूतैः समुद्भूतमिदं शरीरं विपद्य तावद् भवतात् सुधीर ।
प्राणात्यये का धिषणाऽस्य तेन जीवोऽस्तु यावन्मरणं सुखेन ॥१५

हे सुधीर-वीर, यह शरीर तो पृथ्वी आदि पंच भूतोंसे उत्पन्न हुआ है, जो कि प्राणोंके वियोग होने पर बिखर कर उन्हीं पंच भूतोंसे मिल जायगा । प्राण-वियोगके पश्चात् भी जीव नामक कोई पदार्थ बना रहता है, इस विषयमें क्या प्रमाण है ?

इसलिए मनुष्यको चाहिए कि वह मरण-पर्यन्त सुखसे जीवन यापन करे ॥१५॥

प्रमन्यतां चेत्परलोकसत्ता यतस्तपस्याऽततु सम्भवत्ताम् ।
तथापि सा स्याज्जरसि क्क माद्यत्तारुण्यपूर्णस्य तवोचिताऽत्र ॥१६॥

थोडी देरके लिए यदि परलोककी सत्ता मान भी ली जाय, और उसके सुखद बनानेके लिए तपस्या करना भी आवश्यक समझा जावे, तो भी वह तपस्या वृद्धावस्थामे ही करना उचित है, इस मदमाती तारुण्य-पूर्ण अवस्थामे आज यह शरीरको सुखानेवाली तपस्या करना क्या तुम्हारा उचित कार्य है ॥१६॥

एकान्ततोऽपावुपभोगकालस्त्वयैतदारब्ध इहापि बाल ।
भुक्त्यन्तरं तज्जरणार्थमम्भोऽनुयोग आस्तामध एव किम्भो ॥१७॥

हे भोले बालक, एकान्तसे विषयोंके भोगनेका यह समय है, उसमें तुमने यह दुष्कर तप धारण कर लिया है, सो क्या यह तुम्हारे योग्य है ? भोजन करनेके पश्चात् उसके परिपाकके लिए जलका उपयोग करना अर्थात् पीना उचित है, पर भोजनको किये विना ही उसका पीना क्या उचित कहा जा सकता है ॥१७॥

अहो मयाऽज्ञायि मनोज्ञमेतदङ्गं मदीयं भुवि किन्तु नेतः ।
भवत्कमत्युत्तममित्यतोऽहं भवत्यदो यामि मनः समोहम् ॥१८॥

हे महाशय, मैं तो अभी तक यही समझती थी कि इस भूमण्डल पर मेरा यह शरीर ही सबसे अधिक सुन्दर है। किन्तु

आज ज्ञात हुआ कि मेरा शरीर सुन्दर नहीं, बल्कि आपका शरीर अति उत्तम है – सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य-युक्त है, अतएव मेरा मन सम्मोहित हो रहा है और मैं आपसे प्रार्थना कर रही हूँ ॥१८॥

अस्या भवान्नादरमेव कुर्यात्तनुः शुभेयं तव रूपधुर्या ।
क्षिप्तोऽपि पङ्के न रुचिं जहाति मणिस्तथेयं सहजेन भाति ॥१९॥

आपका यह शुभ शरीर अति रूपवाला है और आप इसका आदर नहीं कर रहे हैं, प्रत्युत तपस्याके द्वारा इसे श्री-विहीन कर रहे हैं। जैसे कीचडमे फेका गया मणि अपनी सहज कान्तिको नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार इस अवस्थामें भी आपका शरीर सहज सौन्दर्यसे शोभित हो रहा है ॥१९॥

अकाल एतद् घनघोररूपमार्तं समालोक्य यतीन्द्रभूपः ।
निम्नोदितेनोरुसमीरणेन समुद्यतो वारयितुं क्षणेन ॥२०॥

असमयमें आये हुए इस घनघोर सकटरूप मेघ-समूहको देखकर उसे वह यतीन्द्रराज सुदर्शन वक्ष्यमाण उपदेशरूप प्रबल पवनके द्वारा क्षणमात्रमें निवारण करनेके लिए उद्यत हुए ॥२०॥

सौन्दर्यमङ्गे किमुपैसि भद्रे घृणास्पदं तावदिदं महद्रे ।
चर्मावृतं वस्तुतयोपरिष्टादन्तः पुनः केवलमस्ति विष्टा ॥२१॥

हे भद्रे, इस शरीरमें तू क्या सौन्दर्य देखती है? यह तो महा घृणाका स्थान है। ऊपरसे यह चर्मसे आवृत होनेके कारण

सुन्दर दिख रहा है, पर वस्तुतः इसके भीतर तो केवल विष्टा ही भरी हुई है ॥२१॥

विनाशि देहं मलमूत्रगेहं वदामि नात्मानमतो मुदेऽहम् ।
स्वकर्मसत्तावशवर्तिनन्तु सन्तश्चिदानन्दममुं श्रयन्तु ॥२२॥

हे भोली, यह शरीर क्षण-विनश्वर है, मल-मूत्रका घर है, अतएव मैं कहता हूं कि यह कभी भी आत्माके आनन्दका कारण नहीं हो सकता। और यही कारण है कि सन्तजन इसे चिदानन्द-मयी आत्माके लिए कारागार (जेलखाना) के समान मानते हैं, जिसमें कि अपने कर्मकी सत्ताके वश-वर्ती होकर यह जीव बन्धन-बद्ध हुआ दुःख पाता रहता है ॥२२॥

एकोऽस्ति चारुस्तु परस्य सा रुग्दारिद्र्यमन्यत्र धनं यथा रुक् ।
इत्येवमालोक्य भवेदभिज्ञः कर्मानुगत्वाय दृढप्रतिज्ञः ॥२३॥

इस संसारमें एक नीरोग दीखता है, तो दूसरा रोगी दिखाई देता है। एकके दरिद्रता दृष्टिगोचर होती है, तो दूसरेके अपार धन देखनेमें आता है। संसारकी ऐसी परस्पर विरोधी अवस्थाओंको देखकर ज्ञानी जन कर्मकी परवशता माननेके लिए दृढ़प्रतिज्ञ होते हैं। भावार्थ – संसारकी उक्त विषम दशाएं ही जीव, कर्म और परलोकके अस्तित्वको सिद्ध करती हैं ॥२३॥

बालोऽस्तु कश्चित्स्थविरोऽथवा तु न पक्षपातः शमनस्य जातु ।
ततः सदा चारुतरं विधातुं विवेकिनो हृत्सततं प्रयातु ॥२४॥

कोई बालक हो, अथवा कोई वृद्ध हो, यमराजके इसका कभी कोई पक्ष-पात (भेद-भाव) नहीं है, अर्थात् जब जिसकी आयु पूर्ण हो जाती है, तभी वह मृत्युके मुखमें चला जाता है। इसलिए विवेकी जनोंका हृदय सदा आत्म-कल्याण करनेके लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है ॥२४॥

भद्रे त्वमद्रेरिव मार्गरीतिं प्राप्ता किलास्य प्रगुणप्रणीतिम् ।
कठोरतामभ्युपगम्य याऽसौ कष्टाय नित्यं ननु देहिराशौ ॥२५॥

हे भद्रे, तू अद्रि (पर्वत) के समान विषम मार्गवाली अवस्थाको प्राप्त हो रही है, जिसकी टेढ़ी-मेढ़ी कुटिलता और कठोरताको प्राप्त होकर नाना प्राणी नित्य ही कष्ट पाया करते हैं ॥२५॥

अवेहि नित्यं विषयेषु कष्टं सुखं तदात्मीयगुणं सुदृष्टम् ।
शुष्कास्थियुक् श्वाऽऽस्यभवं च रक्तमस्थ्युत्थमेतीति तदेकभक्तः ॥

इन्द्रियोंके विषयोंमें नित्य ही कष्ट है, (उनके सेवनमें रंच-मात्र भी सुख नहीं है,) क्योंकि सुख तो आत्माका गुण माना गया है। (वह बाह्य विषयोंमें कहाँ प्राप्त हो सकता है।) देखो—सूखी हड्डीको चबानेवाला कुत्ता अपने मुखमेंसे निकले हुए रक्तका स्वाद लेकर उसे हड्डीसे निकला हुआ मानता है। यही दशा उन संसारी जीवोंकी है जो सुखको विषयोंसे उत्पन्न हुआ मानकर रात-दिन उनके सेवनमे अनुरक्त रहते है ॥२६॥

इत्येवं प्रत्युत विरागिणी समनुभवन्तं स्वात्मनः किणम् ।
न्यपातयच्चमिदानीं तल्पे पुनरपि भावयितुं स्मरकल्पे ॥२७॥

इस प्रकार अनुरागके स्थानपर विरागका उपदेश देनेवाले और अपने आत्माके गुणका चिन्तवन करनेवाले उन सुदर्शन मुनिराजको फिर भी काम-वासना युक्त बनानेके लिए उस वेश्याने अपनी काम-तुल्य शय्या पर हठात् पटक लिया (और इस प्रकार कहने लगी।) ॥२७॥

देवदत्तां सुवाणीं सुवित् सेवय ॥ स्थायी ॥
चतुराख्यानेष्वभ्यनुयोक्त्रीं भास्वदङ्गतामिह भावय ॥देवदत्तां० १॥
अनेकान्तरङ्गस्थलभोक्त्रीं किञ्चिद्वृत्तमुखामाश्रय ॥देवदत्तां० २॥
बलिरत्नत्रयमृदुलोदर्ग्णीं नाभिभवार्यां सुगुणाश्रय ॥देवदत्तां० ३॥
भूरानन्दस्येयमितीदं मत्वा मनः मदैनां नय ॥देवदत्तां० ॥४॥

हे सुविज्ञ, इस मधुर-भाषिणी देवदत्ताको जिनवाणीके समान सेवन करो। जिनवाणी जैसे चार प्रकारके अनुयोगोमें विभक्त है और सुन्दर द्वादश अगोंको धारण करती है, उसी प्रकार यह देवदत्ता भी लोगोको चतुर आख्यानकोमें निपुण बना देनेवाली और सुन्दर अंगोको धारण करनेवाली है। जिनवाणी जैसे अनेकान्त सिद्धान्तकी किञ्चिद्-कथञ्चित् पदकी प्रमुखताका आश्रय लेकर प्रतिपादन करती है, उसी प्रकार यह देवदत्ता भी अनेक द्वारवाले रङ्गस्थलका उपभोग करती है और कुछ गोल मुखको धारण करती है। जिनवाणी जैसे प्रबल एव मृदुल रत्नत्रयको धारण करती है, उसी प्रकार यह देवदत्ता भी अपने उदर-भागमें मृदुल तीन बलियोंको धारण करती है और हे सुगुणोंके आश्रयभूत सुदर्शन, जिनवाणी जैसे कभी भी अभिभव

(पराभव) को नहीं प्राप्त होनेवाले अकाट्य अर्थका प्रतिपादन करती है, उसी प्रकार यह देवदत्ता भी अपनी नाभिमें अगाध गाम्भीर्यरूप अर्थको धारण करती है। इस प्रकार जैसे जिन-वाणी तुम्हें आनन्दकी देनेवाली है, उसीके समान इस देवदत्ता को भी आनन्दकी देनेवाली मानकर अपने मनको सदा इसमें लाओ और जिनवाणीके समान इसका (मेरा) सेवन करो ॥१-४॥

इह पश्याङ्ग सिद्धशिला भाति ॥ स्थायी ॥
उच्चैस्तनपरिणामवतीयं मृदुमुक्तात्मकताख्याति ॥इह पश्याङ्ग० १
सङ्गच्छन् यत्र महापुरुषः को नाऽनङ्गदशां याति ॥इह पश्याङ्ग० २॥
भूरानन्दस्येयमतोऽन्या काऽस्ति जगति खलु शिवतातिः ॥३॥

हे प्रिय, यदि तुम सिद्धशिला पर पहुँचनेके इच्छुक हो, तो यहां देखो – मेरे शरीरमे यह सिद्धशिला शोभायमान हो रही है। जैसे सिद्धशिला लोकके अग्र भागमे सबसे ऊपर अवस्थित मानी गई है और जहां पर मुक्त जीव निवास करते है, उसी प्रकार मेरे इस शरीरमें ये अति उच्च स्तनमण्डल मृदु मुक्ताफलों-(मोतियों-) वाले हारसे सुशोभित हो रहे है। जैसे उस सिद्ध-शिला पर पहुँचनेवाला महापुरुष अनङ्ग (शरीर-रहित) दशाको प्राप्त होता है, वैसे ही मेरे स्तन-मण्डलपर पहुँचनेवाला भाग्य-शाली पुरुष भी अनङ्ग दशा (काम-भाव) को प्राप्त हो जाता है। अतः इस जगत्में यह देवदत्तारूप सिद्धशिला ही अद्वितीय

आनन्दका स्थान है। इसके सिवाय दूसरी और कोई कल्याण-परम्परावाली सिद्धशिला नहीं है ॥२-३॥

इत्यादिसङ्गीतिपरायणा च सा नानाकुचेष्टा दधती नरङ्कषा ।
कामित्वमापादयितुं रसादित ऐच्छत्समालिङ्गनचुम्बनादितः ॥

इस प्रकार शृङ्गार-रससे भरे हुए सुन्दर संगीत-गानमें परायण उस देवदत्ता वेश्याने मनुष्यको अपने वशमें करनेवाली नाना कुचेष्टाएँ की और आलिगन, चुम्बनादिक सरस क्रियाओं से सुदर्शन मुनिराजमें काम-भाव जागृत करनेके लिए प्रयत्न करने लगी ॥२८॥

दारूदितप्रतिकृतीङ्गशरीरदेशः पाषाणतुल्यहृदयः समभूत्स एषः ।
यस्मिन्निपत्य विफलत्वमगान्नरे सा तस्या अपाङ्गशरसंहतिरप्यशेषा ॥

किन्तु देवदत्ताके प्रबल कामोत्पादक प्रयत्नोंके करने पर भी वे सुदर्शन मुनिराज काष्ठ-निर्मित्त मानव-पुतलेके समान स्तब्धता धारण कर पाषाण-तुल्य कठोर हृदयवाले बन गये, जिससे कि उस देवदत्ताके समस्त कटाक्ष-बाणोंका समूह भी उनके शरीर पर गिरकर विफलताको प्राप्त हो रहा था। भावार्थ – सुदर्शन मुनिराजने अपने शरीर और मनका ऐसा नियमन किया कि उस वेश्याकी सभी चेष्टाएँ निष्फल रहीं और वे काठके पुतलेके समान निर्विकार ध्यानस्थ रहे ॥२९॥

यावद्दिनत्रयमकारि च मर्त्यरत्नमुच्चालितुं समरसात्तकया प्रयत्नः ।
किन्त्वेष न व्यचलदित्यनुविस्मयं सा गीतिं जगाविति पुनः कलितप्रशंसा ॥३०॥

इस प्रकार तीन दिन तक उस देवदत्ता वेश्याने पुरुष-शिरोमणि उन सुदर्शन मुनिराजको साम्यभावसे विचलित करने के लिए बहुत प्रयत्न किये, किन्तु वे विचलित नहीं हुए। तब वह अति आश्चर्यको प्राप्त होकर उनकी प्रशंसा करती हुई इस प्रकार उनके गुण गाने लगी ॥३०॥

कवालीयो रागः—

जिताक्षाणामहो धैर्यं महो दृष्ट्वा भवेदारात् ॥ स्थायी ॥
जगन्मित्रेऽब्जवत्तेषां मनो विकसति नियतिरेषा ।
भवति दोषाकरे येषां मुद्रणैवासविस्तारा ॥जिताक्षाणा०॥१॥
सम्पदि तु मृदुलतां गत्वा पत्रतामेत्यहो तत्त्वात् ।
विपदि वज्रायते सत्त्वाद् वृत्तिरेषाऽस्ति समुदारा ॥जिताक्षाणा० २॥
जगत्यमृतायमानेभ्यः सदङ्कुरमीक्षमाणेभ्यः ।
स्वयंभूराजते तेभ्यः सुरभिवत्सत्क्रियाधारा ॥जिताक्षाणा०॥३॥

अहो, जितेन्द्रिय पुरुषोंके धैर्यको देखकर मुझे इस समय बहुत आनन्द हो रहा है, जिसका कि मन जगत्-हितकारी मित्र-रूप सूर्यके देखने पर तो कमलके समान विकसित हो जाता है और दोषाकर-चन्द्रके समान दोषोंके भण्डार पुरुषको देखकर जिनका मन मुद्रित हो जाता है, ऐसी जिनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, ये जितेन्द्रिय पुरुष धन्य हैं। ऐसे महापुरुष सम्पत्ति प्राप्त होने पर तो कोमल पत्रोंको धारण करनेवाली मृदु लताके समान वस्तुतः दूसरोंके साथ नम्रता और परोपकार करनेरूप

पात्रताको धारण करते हैं और विपत्ति आने पर धैर्य धारण कर वज्रके समान कठोरताको प्राप्त हो जाते हैं, ऐसी जिनकी अति उदार सात्त्विक प्रवृत्ति होती हैं, वे जितेन्द्रिय पुरुष धन्य हैं। जो जगत्में दुःख-सन्तप्त जनोंके लिए अमृतके समान आचरण करनेवाले हैं और सदाचार पर सदा दृष्टि रखनेवाले है, ऐसे उन महापुरुषोंका आदर-सत्कार करनेके लिए यह समस्त भूमडल भी वसन्त ऋतुके समान सदा स्वयं उद्यत रहता है ॥१-३॥

इत्येवं पदयोर्दयोदयवतो नूनं पतित्वाऽथ सा
सम्प्राहाऽऽदरिणी गुणेषु शमिनस्त्वात्मीयनिन्दादृशा ।
स्वामिस्त्वय्यपराद्धमेवमिह यन्मौढ्यान्मया साम्प्रतं
क्षन्तव्यं तदहो पुनीत भवता देयं च सूक्तामृतम् ॥३१॥

इस प्रकार स्तुति कर और उन परम दयालु एवं प्रशान्त मूर्त्ति सुदर्शन मुनिराजके चरणोमें गिरकर उनके गुणोंमे आदर प्रकट करती हुई, तथा अपने दोषोंकी निन्दा करती हुई वह देवदत्ता बोली — हे स्वामिन्, मैं ने मोहके वश होकर अज्ञानसे जो इस समय आपका अपराध किया है, उसे आप क्षमा कीजिए और हे पतित-पावन, उपदेशरूप वचनामृत देकर आप मेरा उद्धार कीजिए ॥३१॥

सानुकूलमिति श्रुत्वा वचनं पण्ययोषितः ।
इति सोऽपि पुनः प्राह परिणामसुखावहम् ॥३२॥

उस देवदत्ता वेश्याके इस प्रकार अनुकूल वचन सुनकर सुदर्शन मुनिराजने परिणाम (आगामीकाल) में सुख देनेवाले वचन कहे ॥३२॥

फलं सम्पद्यते जन्तोर्निजोपार्जितकर्मणः ।
दातुं सुखं च दुःखं च कस्मै शक्नोति कः पुमान् ॥३३॥

मुनिराजने कहा – हे देवदत्ते, अपने पूर्वोपार्जित कर्मका फल जीवको प्राप्त होता है। अन्यथा किसीको सुख या दुःख देनेके लिए कौन पुरुष समर्थ हो सकता है ? ॥३३॥

जन आत्ममुखं दृष्ट्वा स्पष्टमस्पष्टमेव वा ।
तुष्यति द्वेष्टि चाभ्यन्तो निमित्तं प्राप्य दर्पणम् ॥३४॥

देखो–मनुष्य दर्पणमें अपने स्वच्छ मुखको देखकर प्रसन्न होता है और मलिन मुखको देखकर दुखी होता है, तो इसमें दर्पणका क्या दोष है ? इसी प्रकार दर्पणके समान बाह्य निमित्त कारणको पाकर पुण्यकर्मके उदयसे सुख प्राप्त होने पर यह संसारी जीव सुखी होता है और पापकर्मके उदयसे दुःख प्राप्त होने पर दुखी होता है, तो इसमें निमित्तकारणका क्या दोष है ? यह तो अपने पुण्य और पापकर्मका ही फल है ॥३४॥

कर्तव्यमिति शिष्टस्य निमित्तं नानुतिष्ठतात् ।
न चान्यस्मै भवेज्जातु दुर्निमित्तं स्वचेष्टया ॥३५॥

इसलिए शिष्ट पुरुषका कर्त्तव्य है कि वह निमित्त कारणको बुरा भला न कहे। हां, अपनी बुरी चेष्टासे वह दूसरेके लिए कदाचित् भी स्वयं दुर्निमित्त न बने ॥३५॥

आत्मनेऽपरोचमानमन्यस्मै नाऽऽचरेत् पुमान् ।
सम्पतति शिरस्येव सूर्यायोच्चालितं रजः ॥३६॥

अतएव मनुष्यको चाहिए कि अपने लिए जो कार्य अरुचिकर हो, उसे वह दूसरे के लिए भी आचरण न करे। देखो—सूर्यके लिए उछाली गई धूलि अपने ही शिर पर आकर पड़ती है, उस तक तो वह पहुँचती भी नहीं है ॥३६॥

मनो वचः शरीरं स्वं सर्वस्मै सरलं भजेत् ।
निरीहत्वमनुध्यायेद्यथाशक्त्यर्तिहानये ॥३७॥

अपने मन, वचन और कायको सबके लिए सरल रखे, अर्थात् सबके साथ निश्छल सरल व्यवहार करे। तथा आकुलता को दूर करनेके लिए निरीहता (सन्तोषपना) को धारण करे ॥३७॥

बाह्यवस्तुनि या वाञ्छा सैषा पीडाऽस्ति वस्तुतः ।
सम्पद्यते स्वयं जन्तोस्तन्निवृत्तौ सुखस्थितिः ॥३८॥

जीवकी बाहिरी वस्तुमें जो इच्छा होती है, वस्तुतः वही पीड़ा है, उसे पानेकी इच्छाका नाम दुःख है। उस इच्छा के दूर होने पर जीवको सुखमयी स्थिति स्वयं प्राप्त हो जाती है, उसे पानेके लिए किसी प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं होती ॥३८॥

तस्योपयोगतो वाञ्छा मोदकस्योपशाम्यति ।
किञ्चित्कालमतिक्रम्य द्विगुणत्वमथाश्नुते ॥३९॥

अज्ञानी जीव इच्छित वस्तुका उपभोग करके इच्छाको शान्त करना चाहता है, किन्तु कुछ कालके पश्चात् वह इच्छा दुगुनी होकरके आ खड़ी होती है। जैसे मिठाई खानेकी इच्छा मोदकके उपभोगसे कुछ देरके लिए उपशान्त हो जाती है, परन्तु थोडी देरके बाद ही पुनः अन्य पदार्थोंके खानेकी इच्छा उत्पन्न होकर दुःख देने लगती है। अतः इच्छा की पूर्त्ति करना सुख-प्राप्तिका उपाय नही है, किन्तु इच्छाको उत्पन्न नही होने देना ही सुखका साधन है ॥३९॥

भोगोपभोगतो वाञ्छा भवेत् प्रत्युत दारुणा।
वह्निः किं शान्तिमायाति क्षिप्यमाणेन दारुणा ॥४०॥

भोग और उपभोगरूप विषयोंके सेवन करनेसे तो इच्छा-रूप ज्वाला और भी अधिक दारुण रूपसे प्रज्वलित होती है। अग्निमे क्षेपण की गई लकड़ियोसे क्या कभी अग्नि शान्तिको प्राप्त होती है? ॥४०॥

ततः कुर्यान्महाभाग इच्छाया विनिवृत्तये।
सदाऽऽनन्दोपसम्पत्त्यै त्यागस्यैवावलम्बनम् ॥४१॥

अतएव सदा आनन्दकी प्राप्तिके लिए महाभागी पुरुष इच्छाकी निवृत्ति करे और त्याग भावका ही आश्रय लेवे ॥४१॥

इच्छानिरोधमेवातः कुर्वन्ति यतिनायकाः।
पादौ येषां प्रणमन्ति देवाश्चतुर्णिकायकाः ॥४२॥

इच्छाके निरोधसे ही सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है, इसीलिए बड़े-बड़े योगीश्वर लोग अपनी इच्छाओंका निरोध हो करते है। यही कारण है कि चतुर्निकायके देव आकर उनके चरणोंको नमस्कार करते हैं ॥४२॥

मारयित्वा मनो नित्यं निगृह्णन्तीन्द्रियाणि च ।
बाह्याडम्बरतोऽतीतास्ते नरा योगिनो मताः ॥४३॥

जो पुरुष अपने चंचल मनका नियन्त्रण कर इन्द्रियोंका निग्रह करते हैं और बाहिरी आडम्बरसे रहित रहते है, वे ही पुरुष योगी कहलाते हैं ॥४३॥

ये बाह्यवस्तुषु सुखं प्रतिपादयन्ति
तेऽक्षैर्हता वपुषि चात्मधियं श्रयन्ति ।
हिंसामृषाऽन्यधनदारपरिग्रहेषु
सक्ताः सुरापलपरा निपतन्त्यकेषु ॥४४॥

जो लोग बाहिरी वस्तुओंमें सुख बतलाते हैं और इन्द्रिय-विषयोंसे आहत होकर शरीरमें ही आत्मबुद्धि करते हैं, तथा जो हिंसा, असत्य-सभाषण, पर-धन-हरण, पर-स्त्री-सेवन और परिग्रहमें आसक्त हो रहे है, मदिरा और मासके सेवनमें सलग्न हैं, वे लोग सुखके स्थान पर दुःखोंका ही प्राप्त होते हैं ॥४४॥

अस्वास्थ्यमेतदापन्ना नरकाख्यतया नराः ।
भूगर्भे रोगिणो भूत्वा सन्तापमुपयान्त्यमी ॥४५॥

उपर्युक्त पापोंका सेवन करनेवाले लोग इस भूतल पर ही अस्वस्थ होकर और रोगी बनकर नरक-जैसे तीव्र सन्तापको प्राप्त होते हैं ॥४५॥

हस्ती स्पर्शनसम्वशो भुवि वशामासाद्य सम्बद्ध्यते,
मीनोऽसौ वडिशस्य मांसमुपयन्मृत्युं समापद्यते।
अम्भोजान्तरितोऽलिरेवमधुना दीपे पतङ्गः पतन्।
सङ्गीतैकवशङ्गतोऽहिरपि भो तिष्ठेत्करण्डं गतः ॥४६॥

और भी देखो — संसारमें हाथी स्पर्शनेन्द्रियके वशसे नकली हथिनीके मोह पाशको प्राप्त होकर सांकलोंसे बांधा जाता है, मछली वंशीमें लगे हुए मांसको खानेकी इच्छासे कांटेमें फंसकर मौतको प्राप्त होती है, गन्धका लोलुपी भौरा कमलके भीतर ही बन्द होकर मरणको प्राप्त होता है, रूपके आकर्षणसे प्रेरित हुआ पतंगा दीप-शिखामें गिरकर जलता है और संगीत सुननेके वशंगत हुआ सर्प पकड़ा जाकर पिटारेमें पड़ा रहता है ॥४६॥

एकैकाक्षवशेनामी विपत्तिं प्राप्नुवन्ति चेत्।
पञ्चेन्द्रियपराधीनः पुमाँस्तत्र किमुच्यताम् ॥४७॥

जब ये हाथी आदि जीव एक-एक इन्द्रियके वश होकर उक्त प्रकारकी विपत्तियोंको प्राप्त होते हैं, तब उन पांचों ही इन्द्रियोंके पराधीन हुआ पुरुष कौन-कौनसी विपत्तियोंको नहीं प्राप्त होगा, यह क्या कहा जाय ॥४७॥

ततो जितेन्द्रियत्वेन पापवृत्तिपराङ्मुखः ।
सुखमालभतां चित्तधारकः परमात्मनि ॥४८॥

इसलिए पापरूप प्रवृत्तियोंसे पराङ्मुख रहनेवाला मनुष्य जितेन्द्रिय बनकर और परमात्मामे चित्त लगाकर सुखको प्राप्त करता है ॥४८॥

अहो मोहस्य माहात्म्यं जनोऽयं यद्वशङ्गतः ।
पश्यन्नपि न भूभागे तत्त्वार्थं प्रतिपद्यते ॥४९॥

अहो, यह मोहका ही माहात्म्य है कि जिसके वश हुआ यह जीव संसारमे सत्यार्थ मार्गको देखता हुआ भी उसे स्वीकार नहीं करता है और विपरीत मार्गको स्वीकार कर दुःखोंको भोगता है ॥४९॥

अङ्गेऽङ्गिभावमासाद्य मुहुरत्र विपद्यते ।
शैलूष इव रङ्गेऽसौ न विश्रामं प्रपद्यते ॥५०॥

इस संसारमे अज्ञ प्राणी शरीरमे ही जीवपनेकी कल्पना करके बार-बार विपत्तियोंको प्राप्त होता है । जैसे रंगभूमि पर अभिनय करनेवाला अभिनेता नये नये स्वांग धारण कर विश्राम को नहीं पाता है ॥५०॥

अनेकजन्मबहुले मर्त्यभावोऽतिदुर्लभः ।
खदिरादिसमाकीर्णे चन्दनद्रुमवद्वने ॥५१॥

अनेक प्रकारके जन्म और योनियोंवाले इस संसारमे मनुष्यपना पाना अति दुर्लभ है, जैसे कि खैर, बबूल आदि अनेक वृक्षोंसे व्याप्त वनमे चन्दन वृक्षका मिलना अति कठिन है ॥५१॥

भाग्यतस्तमधीयानो विषयाननुयाति यः ।
चिन्तामणिं क्षिपत्येष काकोड्डायनहेतवे ॥५२॥

भाग्यसे ऐसे अति दुर्लभ मनुष्य-भवको पा कर जो मनुष्य विषयोंके पीछे दौड़ता है, वह ठीक उस पुरुषके सदृश है, जो अति दुर्लभ चिन्तामणि रत्नको पाकर उसे काक उड़ानेके लिए फेंक देता है ॥५२॥

स्वार्थस्येयं पराकाष्ठा जिह्वालाम्पट्यपुष्टये ।
अन्यस्य जीवनमसौ संहरेन्मानवो भवन् ॥५३॥

स्वार्थकी यह चरम सीमा है कि अपने जिह्वाकी लम्पटता को पुष्ट करनेके लिए यह मानव हो करके भी अन्य प्राणीके जीवनका संहार करे और दानव बने। भावार्थ जो अपनी जीभ के स्वादके लिए दूसरे जीवको मारकर उसका मांस खाते हैं, वे मनुष्य होकरके भी राक्षस है ॥५३॥

जीवो मृतिं न हि कदाप्युपयाति तत्त्वात्
प्राणाः प्रणाशमुपयान्ति यथेति कृत्वा ।
कर्ता प्रमाद्यति यतः प्रतिभाति हिंसा
पापं पुनर्विदधतो जगते न किं सा ॥५४॥

यद्यपि तात्त्विक दृष्टिसे जीव कभी भी मरणको नहीं प्राप्त होता है, तथापि मारनेवाले पुरुषके द्वारा शरीर-संहारके साथ उसके द्रव्य प्राण विनाशको प्राप्त होते हैं और दूसरेके प्राणोंका वियोग करते समय यतः हिंसक मनुष्य कषायके आवेश होनेके

कारण प्रमाद-युक्त होता है, अतः उस समय हिंसा स्पष्ट प्रतिभासित होती है, फिर यह हिंसा जगत्के लिए क्या पापको नही उत्पन्न करती है ॥५४॥

भावार्थ – यद्यपि चेतन आत्मा अमर है, तथापि शरीरके घातके साथ प्राणोंका विनाश होता है । मरनेवाले के शस्त्र-घात-जनित पीडा होती है और मारनेवाले के परिणाम सक्लेश-युक्त होते हैं, अतः द्रव्य और भाव दोनों प्रकारकी हिंसा जहां पर हो, वहां पर पापका बन्ध नियमसे होगा ।

अशनं तु भवेद् दूरे न नाम श्रोतुमर्हति ।
पिशितस्य दयाधीनमानसो ज्ञानवानसौ ॥५५॥

मांसके खानेकी बात तो बहुत दूर है, ज्ञानवान् दयालु चित्तवाला मनुष्य तो मांसका नाम भी नहीं सुनना चाहता ॥५५॥

सन्धानं च नवनीतमगालितजलं सदा ।
पत्रशाकं च वर्षासु नाऽऽहर्तव्यं दयावता ॥५६॥

इसी प्रकार दयालु पुरुषको सर्व प्रकारके अचार मुरब्बे, मक्खन, अगालित, जल और वर्षा ऋतुमें पत्रवाले शाक भी नहीं खाना चाहिए, क्योकि इन सबके खानेमें अपरिमित त्रस जीवों की हिंसा होती है ॥५६॥

फलं वटादेर्बहुजन्तुकन्तु दयालवो निश्यशनं त्यजन्तु ।
चर्मोपसृष्टं च रसोदकादि विचारभाजा विभुना न्यगादि ॥५७॥

दयालु जनोंको बड़, पीपल, गूलर, अंजीर, पिलखन आदि अनेक जन्तुवाले फल नहीं खाना चाहिए । तथा उन्हें रात्रिमें

भोजन करनेका त्याग भी करना चाहिए। चमड़ेमें रखे हुए तैल, घृत आदि रसवाले पदार्थ और जल आदि भी नहीं खाना-पीना चाहिए, ऐसा सर्व प्राणियोंके कल्याणका विचार करनेवाले सर्वज्ञदेवने कहा है ॥५७॥

अन्नेन नाद्य द्विदलेन साकमामं पयो दध्यपि चाविपाकम् ।
थूत्कानुयोगेन यतोऽत्र जन्तूत्पत्तिं सुधीनां धिषणाः श्रयन्तु ॥५८॥

चना, मूंग, उडद आदि द्विदलवाले अन्नके साथ अग्नि पर विना पका कच्चा दूध, दही और छांछ भी नही खाना चाहिए, क्योकि इन वस्तुओका खाने पर थूकके संयोगसे तुरन्त त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है, यह बात बुद्धिमानोको बुद्धि-पूर्वक स्वीकार करना चाहिए ॥५८॥

क्षौद्रं किलाक्षुद्रमना मनुष्यः किमु सञ्चरेत् ।
भङ्गा-तमाखु-सुलफादिषु व्यसनितां हरेत् ॥५९॥

विचार-शील मनुष्य क्या मद्य-मांसकी कोटिवाले मधुको खायेगा ? कभी नहीं। तथा उसे भांग, तमाखू, सुलफा, गाजा आदि नशीली वस्तुओंके सेवन करनेके व्यसनका भी त्याग करना चाहिए ॥५९॥

भावार्थ – विचारशील मनुष्यको उपर्युक्त सभी अभक्ष्य, अनुपसेव्य, अनिष्ट, त्रस-बहुल एवं अनन्त स्थावर कायवाले पदार्थों के खानेका त्याग करना चाहिए, यही जितेन्द्रियताकी पहिली सीढी या शर्त है।

गुणप्रसक्त्याऽतिथये विभज्य सदन्नमातृप्ति तथोपभुज्य ।
हितं हृदा स्वेतरयोर्विचार्य तिष्ठेत्सदाचारपरः सदाऽऽर्यः ॥६०॥

गुणोमे अनुराग-पूर्वक प्रसन्नता व्यक्त करते हुए अतिथिको शुद्ध भोजन कराकर स्वय भोजन करे । तथा सदा ही अपने और दूसरेका हृदयसे हित विचार कर आर्य पुरुषको सदाचारमे तत्पर रहना चाहिए ॥६०॥

भावार्थ – अन्तदीपक रूपसे ग्रन्थकारने इस श्लोकमें अतिथि-संविभागव्रतका उल्लेख किया है, जिससे उनका अभिप्राय यह है कि इसी प्रकार विचारशील श्रावकको इसके पूर्ववर्ती ग्यारह व्रतोंको विधिवत् सदा पालन करना चाहिए । यह जितेन्द्रिय श्रावककी दूसरी सीढ़ी या प्रतिमा है ।

मध्ये दिनं प्रातरिवाथ सायं यावच्छरीरं तनुमानतापम् ।
स्मरेदिदानीं परमात्मनस्तु सदैव यन्मङ्गलकारि वस्तु ॥६१॥

प्रात:कालके समान दिनके मध्यभागमे और सायकाल सदा ही परमात्माका स्मरण करे । यह परमात्म-गुण-स्मरण ही जीव का वास्तविक मंगल करनेवाला है । इस प्रकार तीनों सन्ध्याओं में भगवान्का स्मरण जब तक शरीर जीवित रहे तब तक करते रहना चाहिए ॥६१॥

भावार्थ – जीवन-पर्यन्त त्रिकाल सामायिक करना यह श्रावककी तीसरी सीढ़ी है ।

कुर्यात्पुनः पर्वणि तूपवासं निजेन्द्रियाणां विजयी सदा सन् ।
कुतोऽपि कुर्यान्न मनःप्रवृत्तिमयोग्यदेशे प्रशमैकवृत्तिः ॥६२॥

अष्टमी और चतुर्दशी पर्वके दिन अपनी इन्द्रियोको जीतते हुए सदा ही उपवास करना चाहिए और उस दिन परम प्रशम भावको धारण अपने मनकी प्रवृत्तिको किसी भी अयोग्य देशमें कभी नही जाने देना चाहिए ॥६२॥

भावार्थ – प्रत्येक पर्वके दिन यथाविधि उपवास करे । यह श्रावककी चौथी सीढ़ी है ।

या खलु लोके फलदलजातिर्जीवननिर्वहणाय विभाति ।
यावन्नाग्निपक्वतां याति तावन्नहि संयमि अश्नाति ॥६३॥

जीवन-निर्वाहके लिए लोकमे जो भी फल और पत्र जाति की वनस्पति आवश्यक प्रतीत होती है, वह जब तक अग्निसे नही पकाई जाती है, तब तक सयमी मनुष्य उसे नही खाता है ॥६३॥

भावार्थ - सचित्त वस्तुको अग्नि पर पकाकर अचित्त करके खाना और सचित्त वस्तुके सेवनका त्याग करना, यह जितेन्द्रियता की पांचवीं सीढ़ी है ।

एकाशनत्वमभ्यस्येद् द्वयशनोऽह्नि सदा भवन् ।
मानवत्वप्रसादाय न निशाचरतां व्रजेत ॥६४॥

छठी सीढ़ीवाला जितेन्द्रिय पुरुष दिनमे दो वारसे अधिक खान-पान न करे और एक वार खानेका अभ्यास करे। तथा मानवताको धारण कर निशाचरताको न प्राप्त हो, अर्थात् रात्रि-भोजनका त्याग करे, रात्रिमे खाकर निशाचर (राक्षस और नक्तचर) न बने ॥६४॥

समस्तमप्युज्झतु सम्प्रयवायं वाञ्छेन्मनागात्मनि चेदवायम् ।
अक्षेषु सर्वेष्वपि दर्पकारीदमेव येनापि मनो विकारि ॥६५॥

यदि विवेकशील मनुष्य आत्मामे मनको कुछ कालके लिए भी लगाना चाहता है, तो वह सर्व प्रकारके काम-सेवनका त्याग कर देवे। क्योंकि इस काम-सेवनसे विकारको प्राप्त हुआ मन सर्व ही इन्द्रियोके विषयोंमे स्वच्छन्द प्रवृत्ति करनेवाला हो जाता है। यह जितेन्द्रियताकी सातवी सीढी है ॥६५॥

चेदिन्द्रियाणां च हृदो न दर्पिः कुतो बहिर्वस्तुषु संप्रक्लृप्तिः ।
यतो भवेदात्मगुणात्परत्र प्रयोगिता संयमिनेयमत्र ॥६६॥

यदि हृदयमे इन्द्रियोके विषय-सेवनका दर्प न रहा, अर्थात् ब्रह्मचर्यको धारण कर लेनेसे इन्द्रिय-विषयों पर नियंत्रण पा लिया, तो फिर बाहिरी धन, धान्यादि वस्तुओंमें सकल्प या मूर्च्छा रहना कैसे सभव है ? और जब बाहिरी वस्तुओके सचय मे मूर्च्छा न रहेगी, तब वह उन्हे और भी सचय करनेके लिए खेती-व्यापार आदि के आरम्भ-समारम्भ क्यों करेगा। इस प्रकार ब्रह्मचारी मनुष्य आगे बढ़ कर आरम्भ-उद्योगका त्याग कर

अपने आत्मिक गुणोंकी प्राप्तिके उद्योगमे तत्पर होना हैं। संयमी मनुष्यका आत्म-गुण-प्राप्तिकी ओर उपयुक्त एवं उद्युक्त होना ही जितेन्द्रियताकी आठवी सीढ़ी है ॥६६॥

मदीयत्वं न चाङ्गेऽपि किं पुनर्बाह्यवस्तुषु ।
इत्येवमनुमन्धानो धनादिषु विरज्यताम् ॥६७॥

जब मेरे इस शरीरमे भी मेरी आत्माका कुछ तत्त्व नहीं है, तब फिर बाहिरी धनादि पदार्थोंमे तो मेरा हो ही क्या सकता है ? इस प्रकारसे विचार करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुषको पूर्वोपाजित धनादिकमे भी विरक्तिभाव धारण करना चाहिए अर्थात् उनका त्याग करे। यह श्रावकको नवी सीढी है ॥६७॥

मनोऽपि यस्य नो जातु संसारोचितवर्त्मनि ।
समयं सोऽभिसन्दध्यात्परमं परमात्मनि ॥६८॥

जिस जितेन्द्रिय मनुष्यका मन ससारके मार्गमे कदाचित् भी नहीं लग रहा है, वह दूसरोंको भी ससारिक कार्योंके करनेमे अपनी अनुमति नही देता है और अपना सारा समय वह परमात्मामें लगाकर परम तत्त्वका चिन्तन करता है। यह जितेन्द्रियताको दशवी सीढो है ॥६८॥

अनुद्दिष्टां चरेद् भुक्तिं यावन्मुक्तिं न सम्भजेत् ।
स्वाचारसिद्धये यस्य न चित्तं लोकवर्त्मनि ॥६९॥

उपर्युक्त प्रकारसे दश सीढ़ियोंपर चढ़ा हुआ जितेन्द्रिय पुरुष जब यावज्जीवनके लिए अनुद्दिष्ट भोजनको ग्रहण करता है,

अर्थात् अपने लिए बनाये गये भोजनको लेनेका त्यागी बन जाता है और अपने आचारकी सिद्धिके लिए अपने चित्तको लोक-मार्ग मे नही लगाता है, तब वह उद्दिष्ट त्यागरूप ग्यारहवी सीढ़ी पर अवस्थित जानना चाहिए ॥६६॥

अहिंसनं मूलमहो वृक्षस्य साम्यं पुनः स्कन्धमवैमि तस्य ।
सदुक्तिरस्तेयममैथुनश्चापरिग्रहत्वं विटपप्रपञ्चाः ॥७०॥
सदा षडावश्यककौतुकस्य शीलानि पत्रत्वमुशन्ति यस्य ।
धर्माख्यकल्पद्रुवरोऽभ्युदारः श्रीमान् स जीयात्समितिप्रसारः ॥

हे भद्रे, धर्मरूप वृक्षकी अहिंसा जड है, साम्य भाव उसका स्कन्ध (पेडी या तना) है। तथा सत्य-सभाषण, स्तेय-वर्जन, मैथुन-परिहार और अपरिग्रहपना ये उस धर्मरूपी वृक्षकी चार शाखाएँ हैं, छह आवश्यक जिसके फल है, शीलव्रत जिसके पत्र है और ईर्या, भाषा आदि समितिया जिसकी छायारूप है। ऐसा यह श्रीमान् परम उदार धर्मरूप कल्पवृक्ष सदा जयवन्त रहे ॥७०-७१॥

देहं वदेत्स्वं बहिरात्मनामाऽन्तरात्मतामेति विवेकधामा ।
विभिद्य देहात्परमात्मतत्त्वं प्राप्नोति सद्योऽस्तकलङ्कपत्त्वम् ॥७२॥

आत्मा तीन प्रकारकी होती हैं – बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इनमेसे बहिरात्मा तो देहको ही अपनी आत्मा कहता है। विवेकवान् पुरुष शरीरसे भिन्न चैतन्यधामको अपनी आत्मा मानता है। जो अन्तरात्मा बनकर देहसे भिन्न निष्कलक

सत्, चिद् और आनन्दरूप परमात्माका ध्यान करता है, वह स्वयं शुद्ध बनकर परमात्मतत्त्वको प्राप्त होता है, अर्थात् परमात्मा बन जाता है ॥७२॥

आत्माऽनात्मपरिज्ञानसहितस्य समुत्सवः ।
धर्मरत्नस्य सम्भूयादुपलम्भः समुत् स वः ॥७३॥

इस प्रकार आत्मा और अनात्मा (पुद्गल) के यथार्थ परिज्ञानसे सहित धर्मरूप रत्नका प्रकाश लाभ आप लोगोंको प्रमोद-वर्धक होवे, यह मेरा शुभाशीर्वाद है ॥७३॥

इत्येवं वचनेन मार्दववता मोहोऽस्तभावं गतः,
यद्वद्गारुडिनः सुमन्त्रवशतः सर्पस्य दर्पो हतः ।
आर्यात्वं स्म समेति पण्यललना दासीसमेतान्वितः
स्वर्णत्वं रसयोगतोऽत्र लभते लोहस्य लेखा यतः ॥७४॥

इस प्रकार सुदर्शन मुनिराजके सुकोमल वचनोंसे उस देवदत्ता वेश्याका मोह नष्ट हो गया, जैसे कि गारुडी (सर्प-विद्या जाननेवाले) के सुमंत्रके वशसे सर्पका दर्प नष्ट हो जाता है। पुनः दासी-समेत उस वाराङ्गना देवदत्ता ने उन्ही सुदर्शन मुनिराज से आर्यिकाके व्रत धारण किये। सो ठीक ही है, क्योंकि इस जगत् में लोहेकी शलाका भी रसायनके योगसे सुवर्ण पनेको प्राप्त हो जाती है ॥७४॥

प्रेतावासे पुनर्गत्वा सुदर्शनमहामुनिः ।
कायोत्सर्गं दधाराऽसावात्मध्यानपरायणः ॥७५॥

तत्पश्चात् उन सुदर्शन महामुनिने स्मशानमें जाकर कायोत्सर्गको धारण किया और आत्म-ध्यानमें निमग्न हो गये ॥७५॥

ध्यानारूढममुं दृष्ट्वा व्यन्तरी महिषीचरी ।
उपसर्गमुपारब्धवती कर्तुमिहासती ॥७६॥
आगता दैवसंयोगाद्विहरन्ती निजेच्छया ।
गतिरोधवशेनासावेतस्योपरि रोषणा ॥७७॥

रानी अभयमती मर कर व्यन्तरी देवी हुई थी । वह दैव-संयोगसे अपनी इच्छानुसार विहार करती हुई इसी स्मशानके ऊपरसे जा रही थी । अकस्मात् विमानके गति-रोध हो जानेसे उसने नीचेकी ओर देखा और ध्यानारूढ़ सुदर्शनको देखकर अत्यन्त कुपित हो उस दुराचारिणीने उनके ऊपर उपसर्ग करना प्रारम्भ कर दिया ॥७६-७७॥

रे दुष्टाऽभयमत्याख्यां विद्धि मां नृपयोषितम् ।
यस्याः साधारणी वाञ्छा पूरिता न त्वया स्मयात् ॥७८॥

वह व्यन्तरी रोषसे बोली–रे दुष्ट, जिसकी साधारण सी इच्छा तूने अभिमानसे पूर्ण नहीं की थी, मैं वही अभयमती नामकी राजरानी हूँ, इस बातको अच्छी तरह समझ ले ॥७८॥

पश्य मां देवताभूय रूपान्तूपासकाधिप ।
त्वमिमां शोचनीयास्थामासो नैष्ठुर्ययोगतः ॥७९॥

हे श्रावक-शिरोमणि, मुझे देख, मैं देवता बनकर आनन्द कर रही हूँ और तू निष्ठुर व्यवहारके कारण इस शोचनीय अवस्थाको प्राप्त हुआ है ॥७९॥

कस्यापि प्रार्थनां कश्चिदित्येवमवहेलयेत् ।
मनुष्यतामवाप्तश्चेद्यथा त्वं जगतीतले ॥८०॥

इस भूतल पर कोई भी जीव किसी भी जीव की प्रार्थना का इस प्रकार तिरस्कार नही करता, जैसा कि तूने मनुष्यपना पाकर मेरी प्रार्थनाका तिरस्कार किया है ॥८०॥

हे तान्त्रिक तदा तु त्वं कृतवान् भूपमात्मसात् ।
वदाद्य का दशा ते स्यान्मदीयकरयोगतः ॥८१॥

हे तांत्रिक, उस समय तो तूने अपनी तन्त्र-विद्यासे राजा को अपने अनुकूल बना लिया (सो बच गया)। अब बोल, आज मेरे हाथसे तेरी क्या दशा होती है ॥८१॥

इत्यादिनिष्ठुरवचाः कृतवत्यनेक-
रूपं प्रविघ्नमिति तस्य च वर्णने कः ।
दक्षः समस्तु परिचिन्तनमात्रतस्तु
यज्जायते हृदयकम्पनकारि वस्तु ॥८२॥

इत्यादि प्रकारसे निष्ठुर वचनोंको कहनेवाली उस यक्षिणी ने जो अनेक घोर विघ्न, उपद्रव सुदर्शन मुनिराजके ऊपर किये, उन्हें वर्णन करनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है। उनके तो

चिन्तवन मात्रसे ही अच्छे घोर-वीरोंका भी हृदय कम्पन करने लगता है ॥८२॥

आत्मन्येवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं चिन्तयतोऽस्य धीमतः ।
न जातुचिद्भूल्लक्ष्यस्तत्कृतोपद्रवे पुनः ॥८३॥

किन्तु अपनी आत्मामें अपनी आत्माके द्वारा अपनी आत्माका ही चिन्तवन करनेवाले इन महाबुद्धिमान् सुदर्शन मुनिराजका उपयोग उस यक्षिणीके द्वारा किये जाने वाले उपद्रवकी ओर रंचमात्र भी नहीं गया ॥८३॥

त्यक्त्वा देहगतस्नेहमात्मन्येकान्ततो रतः ।
बभूवास्य ततो नाशमगू रागादयः क्रमात् ॥८४॥

उस देवी-कृत उपसर्गके समय वे सुदर्शन मुनिराज देह-सम्बन्धी स्नेहको छोड़कर एकाग्र हो अपनी आत्मामें निरत हो गये, जिससे कि अवशिष्ट रहे हुए सूक्ष्म रागादिक भाव भी क्रम से नाशको प्राप्त हो गये ॥८४॥

भावार्थ – सुदर्शन मुनिराजने उस उपसर्ग-दशामे ही क्षपक श्रेणी पर चढ़कर मोह आदिक घातिया कर्मोंका नाश कर दिया ।

निःशेषतो मले नष्टे नैर्मल्यमधिगच्छति ।
आदर्श इव तस्यात्मन्यखिलं बिम्बितं जगत् ॥८५॥

इस प्रकार भाव-मलके निःशेषरूपसे नष्ट हो जाने पर वे परम निर्मलताको प्राप्त हुए, अर्थात् केवलज्ञानको प्राप्तकर अरहन्त

परमेष्ठी बन गये। उस समय उनकी आत्मामें दर्पणके समान समस्त जगत् प्रतिबिम्बित होने लगा ॥८५॥

नदीपो गुणरत्नानां जगतामेकदीपकः ।
स्तुताञ्जनतयाऽधीतः स निरञ्जनतामधात् ॥८६॥

पुनः गुणरूप रत्नोंके सागर, तीनो जगत्के एक मात्र दीपक, और सर्व लोगोके द्वारा आराधना करने योग्य वे सुदर्शन जिनेन्द्र निरजन दशाको प्राप्त हुए, अर्थात् पुन शेष चारो अघातिया कर्मोका भी क्षयकर उन्होने मोक्ष प्राप्त किया ॥८६॥

मानवः प्रपठेदेनं सुदर्शनसमुद्गमम् ।
येनाऽऽत्मनि स्वयं यायात्सुदर्शनसमुद्गमम् ॥८७॥

जो मानव सुदर्शनके सिद्धि-सौभाग्यरूप उदयको प्रकट करनेवाले इस सुदर्शनोदयको पढेगा, वह अपनी आत्मामे सम्यग्दशनके उदयको स्वयं ही प्राप्त होगा ॥८७॥

प्रशमधर गणशरण जय मदनमदहरण ।
परमपदपथकथन मम च परमथमथन ॥८८॥

हे प्रशमभावके धारक, हे मुनिगणके शरण देनेवाले, हे काम-मदके हरनेवाले, हे परम पदके उपदेशक, और मेरे पापों के मथन करनेवाले हे सुदर्शन भगवन्, आप सदा जयवन्त रहें ॥८८॥

परमागमलम्बेन नवेन सञ्चयं लप ।
यम सम्वर मन्त्रं मां नयेदिति न मे मतिः ॥८९॥

हे नरोत्तम सुदर्शन भगवन्, परमागमके अवलम्बनसे नव्य भव्य उपदेशके द्वारा मुझे सन्मार्ग दिखाओ, आपका वह सदुपदेश ही मुझे सुख सम्पादन न करेगा, ऐसी मेरी मति नहीं है, प्रत्युत मुझे अवश्य ही सुख प्राप्त करावेगा, ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है ॥८९॥

वन्दे तमेव सततं विलसत्तमाल–
रङ्गं शरीरगतरङ्गधरं चकार ।
लब्ध्वा हि मङ्क्षमकनाशक एवकश्च
चक्रे भुवः स वशिनां पणमाप मे सः ।९०॥

जिनके शरीरका रग तमालपत्रके समान श्याम है और अगके रग समान काला सर्प ही जिनका चरण-चिह्न है, जो जितेन्द्रिय पुरुषोमे मुख्य माने गये हैं ऐसे श्री पार्श्वनाथ भगवान् हमारे पापोके नाश करनेवाले हों ॥९०॥

भूतमात्रहितः पातु राजोमतिपतिः स वः ।
महिमा यस्य भो भव्या ललामा मारदूरगः ॥९१॥
कृपालतातः आरब्धं तस्येदं मम कौतुकम् ।
मञ्जुले भवतां कण्ठेऽस्तु तमां श्रीकरं परम् ॥९२॥

हे भव्यजीवो, प्राणिमात्रके हित करनेवाले वे राजुल-पति श्रीनेमिनाथ भगवान् तुम सब लोगोंकी रक्षा करें, जिनकी ललाम (सुन्दर) यशोमहिमा भी कामको बाधासे हमें दूर रखती है। उनकी कृपारूप लतासे रचित यह मेरा पुष्परूप निबन्ध

आप लोगोंके सुन्दर कण्ठमें परम शोभाको बढ़ाता हुआ विराजमान रहे ॥६१-६२॥

विशेष – इन दोनों श्लोकोके आठों चरणोके प्रारम्भिक एक-एक अक्षरके मिलाने पर 'भूरामल-कृनमस्तु' वाक्य बनता है, जिसका अर्थ यह है कि 'यह सुदर्शनोदय भूरामल-रचित' है।

वीरोक्तशुभतत्त्वार्थलोचनेनाद्य वत्सरे।
पुण्यादहं समाप्नोमि सुदर्शनमहोदयम् ॥६३॥

श्रीवीरभगवान्-द्वारा प्रतिपादित शुभ सप्त तत्त्वार्थरूप नेत्रसे आज इस वीरनिर्वाण २४७० संवत्सरमे मैं बड़े पुण्योदयसे इस सुदर्शनके महोदयको प्रकट करनेवाले सुदर्शनोदयको समाप्त कर रहा हूँ ॥६३॥

भावार्थ – 'अंकानां वामतो गतिः' इस नियमके अनुसार शुभपदसे शून्य (०) तत्त्वपदसे सात (७) अर्थपदसे नौ (६) और लोचनपदसे दो (२) का अंक ग्रहण करने पर वीरनिर्वाण संवत् २४७० मे इस ग्रन्थकी रचना हुई।

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम्।
तेनेदं रचितं सुदर्शनधनीशानोदयं राजतां
यावद्भानुविधूदयो भवभृतां भद्रं दिशच्छ्रीमताम् ॥६४॥

राणोली (राजस्थान) में श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी हुए। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती घृतवरीदेवी थी। उनसे श्रीमान् वाणी-

भूषण, बालब्रह्मचरी पं० भूरामलजी हुए – जो वर्तमानमें मुनि ज्ञानसागरके नामसे प्रसिद्ध है। उनके द्वारा रचित यह सुदर्शनोदय काव्य जब तक ससारमें सूर्य और चन्द्रका उदय होता रहे, तब तक आप सब श्रीमानोका कल्याण करता हुआ पठन-पाठनके रूपसे विराजमान रहे।

इस प्रकार सुदर्शन मुनिराजके मोक्ष-गमनका वर्णन करने वाला यह नवा सर्ग समाप्त हुआ।



मंगल-कामना

संसृतिरसकौ निस्सारा कदलीव किल दुराधारा ॥स्थायी॥
स्वार्थत एव समस्तो लोकः परिणमति च परमनुकूलोकः।
सोऽन्यथा तु विमुख इहाऽऽरात्संसृतिरसकौ निस्सारा ॥१॥
जलबुद्बुदवज्जीवनमेतत्सन्ध्येव तनोरपि मृदुलेतः।
तडिदिव तरला धनदारा संसृतिरसकौ निस्सारा ॥२॥
यत्र गीयते गीतं प्रातः मध्याह्ने रोदनमेवातः।
परिणमनश्रियो ह्यविकारात्संसृतिरसकौ निस्सारा ॥३॥

दृष्ट्वा सदैतादृशीमेतां भूरागरुषोः किमुत सचेताः ।
परमात्मनि तत्त्वविचारात्संसृतिरसकौ निस्सारा ॥४॥

यह संसार केलेके स्तम्भके समान निःसार है, इसका कोई मूल आधार नहीं है। संसारके सब लोग अपने स्वार्थसे ही दूसरोंके साथ अनुकूल परिणमन करते हैं और स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर वे विमुख हो जाते हैं, अतः यह संसार असार ही है। यह मनुष्यका जीवन जल के बबूलेके समान क्षण-भंगुर है, शरीरकी सुन्दरता भी सन्ध्याकालीन लालिमाके समान क्षण-स्थायी है और ये स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि के सम्बन्ध तो बिजलीके समान क्षणिक हैं, अतएव यह संसार वास्तवमें असार ही है। जहां पर प्रातःकाल गीत गाते हुए देखते हैं, वहीं मध्याह्नमें रोना पीटना दिखाई देता है। यह संसार ही परिवर्तन-शील है, अतः निस्सार है। संसारके ऐसे विनश्वर स्वरूप को देखकर सचेत मनुष्य किसीमें राग और किसीमें द्वेष क्यों करें? अर्थात् उन्हें किसी पर भी राग या द्वेष नहीं करना चाहिए। किन्तु तत्त्वका विचार करते हुए परमात्मामें उसके स्वरूप-चिन्तवनमें लगना चाहिए, क्योंकि इस असार संसारमें एक परमात्माका भजन-चिन्तवन ही साररूप है ॥१-४॥



परिशिष्ट

सुदर्शनोदयके पचम सर्गमें ग्रन्थकारने प्रभाती, पूजन, स्तवन आदिके रूपमे भगवद्-भक्तिका बहुत ही भाव-पूर्ण वर्णन अनेक प्रकारके राग-रागिणीवाले छन्दोंमे किया है, जिसका असली रसास्वादन तो संस्कृतज्ञ पाठक ही करेगे। परन्तु जो संस्कृतज्ञ नहीं हैं, उन लोगोको लक्ष्यमें रखकर इस प्रकरणका हिन्दी पद्यानुवाद भी भक्ति-वश मैंने किया, जो यहा पर दिया जा रहा है।

(१)

पंचम सर्गके प्रारम्भमें पृष्ठ ८० पर आई हुई संस्कृत-प्रभातीका हिन्दी पद्यानुवाद –

अहो प्रभात हुआ हे भाई, भव-भय-हर जिन-भास्करसे,
पाप-प्राया भगी निशा अब, इस शुभ भारत-भूतलसे।
तारे भी अब दृष्टि न आते, सित द्युति चन्द्र पलायनसे,
कायरता त्यों दृष्टि न आती, ज्यों श्वेताङ्गी जानेसे ॥ अहो० ॥
नभचरका संचार हुआ अब, ज्यों नभ-यान चले नभसे,
विप्र समादर करे नीचका, पूजन कर हरकी जलसे ॥ अहो० ॥
आमेरिक मन अब भी मैले, दिखें सुमन अलिसे जैसे,
'भूरा' भूकी शान्ति-हेतु अब, लगन लगा ले जिन-पदसे ॥अहो०॥

(२)

पृष्ठ ८१ पर आये 'आगच्छता' इत्यादि संस्कृत गीत का हिन्दी पद्यानुवाद –

आओ भाई चलो चलें अब, श्रीजिनवरकी पूजनको।
आत्म-स्फूर्ति करानेवाली, देखें दृगसे जिन-छविको ॥ टेक, १ ॥
जल चन्दन तन्दुल पुष्पादिक, ले करमें सब द्रव्यनिको।
श्रीजिनवरकी कर पूजा हम, सफल करें निज जीवनको ॥टेक,२॥
कलि-मल-धावन, अतिशय पावन, लेकर गन्धोदकको।
शिर पर धारण करें, हरे सब पाप, कहें क्या फिर तुमको ॥टेक,३॥
यह मस्तक जिन-पदमें रखकर, पावन करें अरे, इसको।
उत्तम-पद-सम्प्राप्ति-हेतु यह, निश्चय ही कहते तुमको ॥ टेक, ४ ॥
थोड़ा बहुत बने जो कुछ भी, सद्-गुण-गान करो, मनको–
'भूरा' सद्-गुणमयी बना लो, देव-भजन कर जीवनको ॥ टेक,५ ॥

(३)

पृष्ठ ८२ पर आये 'भो सखि जिनवरमुद्रां' इत्यादि संस्कृत गीतका हिन्दी पद्यानुवाद –

हे सखि, जिनवर-मुद्रा देखो, जातें सफल नयन हो जांय,
राग-रोषसे रहित दिगम्बर, शान्त मूर्त्ति मम मनको भाय।
तुलना भूतल पर नहिं जिसकी, दर्शन होवें भाग्य-वशाय ॥ टेक, १ ॥
पहिले किया राज्य-शासन है, जगको जग-सुख-मार्ग दिखाय।
नासा-दृष्टि रखे अब शिवका, भोग-योग-अन्तर बतलाय ॥ टेक, २ ॥

पद्मासन-संस्थित यह मुद्रा, सोहै कर पर कर हि धराय ।
निज बल-सम्मुख सब बल निष्फल, सबको यह सन्देश सुनाय ॥ ३ ॥
यदि तुम शान्ति चाहते भाई, भजो इसे अब सन्निधि आय ।
'भूरा' जगको देय जलाञ्जलि, भजो इसे अब मन वच काय ॥टेक, ४॥

(४)

पृष्ठ ८४-८५ पर आये 'कदा समयः स' इत्यादि संस्कृत गीतका हिन्दी पद्यानुवाद –

कब वह समय आय भगवन्, तुव पद-पूजनका ॥ टेक ॥
कनक कलशमें भर गंगा-जल, अति उमंगसो ल्याय,
धार देत जिन-मुद्रा आगे, कर्म-कलंक बहाय ॥ टेक, १ ॥
मलयागिर चन्दनको घिस कर, केशर कर्पूर मिलाय ।
जिन-मुद्रा-पद-अर्चन करतहि, सब अपाय नश जाय ॥ टेक, २ ॥
मुक्ताफल-सम उज्ज्वल तन्दुल, लाकर पुञ्ज चढ़ाय ।
जिन-मुद्राके आगे, यात स्वर्ग-रमाका पति बन जाय ॥ टेक ३ ॥
कमल केतकी पारिजातके, बहुविध कुसुम चढ़ाय ।
जिन-मुद्राके सम्मुख, यातें अति सौभाग्य लहाय ॥ टेक, ४ ॥
षट्रसमयी दिव्य व्यञ्जनसे स्वर्ण थाल भर लाय ।
जिन-मुद्रा सम्मुख मैं अरपूं, जातें क्षुधा रोग नश जाय ॥ टेक, ५ ॥
घृत कर्पूर और मणिमय यह, दीपक ज्योति जलाय ।
करूं आरती जिन-मुद्राकी, प्रगटे ज्ञान ज्योति अधिकाय ॥ टेक, ६ ॥
कृष्णागुरु चन्दन कपूर-मय, धूप सुगन्ध जलाय ।
करूं सुगन्धित दशों दिशाएं, कर्म-प्रभाव-हराय ॥ टेक, ७ ॥

आम नरगी केला आदिक, बहुविध फल मगवाय ।
करूं समर्पित उच्च भावसे, हरूं विफलता, शिव-फल पाय ।।टेक, ८।।
जल चन्दन तन्दुल पुष्पादिक, आठों द्रव्य मिलाय ।
पूजा करके श्रीजिन-पदकी, पाऊं मुक्ति महासुख दाय ।। टेक, ९ ।।
इस विधि पूजन कर जिनवरकी, कर्म-कलंक नशाय ।
'भूरा' सुखी होंय सब जगके, शान्ति अनूपम पाय ।। टेक, १० ।।

(५)

पृष्ठ ८७-८८ पर आये 'तव देवांग्रिसेवां' इत्यादि संस्कृत गीतका हिन्दी पद्यानुवाद –

तेरे चरणोंकी सेवामे आया जी, जिन कर्त्तव्य मैंने निभाया जी ।।टेक।।
अघ-हरणी, सुख-कारिणी, चेष्टा तुव सज्ज्ञान;
दुखियाकी विनती सुनो, हे जिन कृपा-निधान ।
करो तृप्ति संक्लेश-हर स्वामिन्, तेरे चरणोंकी० १।।
जगने क्या पाया नहीं, इच्छित वर भगवान्,
मुझ अभागिकी बारि है, हे सद्-गुण-सन्धान ।
क्या अब भी पाऊँ नहीं, मैं अभीष्ट वर-दान।। तेरे चरणोंकी० २।।
सेये जगमे देव बहु, हे सज्ज्योतिर्धाम,
तुम तारोमे सूर्य ज्यों, हे निष्काम ललाम ।
अन्तस्तम नहिं हर सके, और देव बेकाम ।। तेरे चरणोंकी० ३ ।।
वे सब निज यश गावते दीखें सदा जिनेश,
स्वावलम्ब उपदेश कर, तुम हो शान्त सुवेश ।
तुव शिक्षा ईक्षा-परा, सांचे तुम्ही महेश ।। तेरे चरणोंकी० ४ ।।

अब भगवन्, तुम ही शरण, तारण तरण महान्,
वीतराग सर्वज्ञ हो, धारक केवलज्ञान ।
'भूरा' आयो शरणमें, लाज राख भगवान् ॥ तेरे चरणोंकी० ५ ॥

(६)

पृष्ठ ८८-८९ पर आये 'जिनप परियामो मोदं' इत्यादि संस्कृत गीतका हिन्दी पद्यानुवाद –

जिनवर, पायें प्रमोद देख तुव मुख आभाको । टेक॥
ज्यों निर्धन वनिता लख निधानको अति प्रमुदित होती ।
ज्यों चिर-क्षुधित मनुजको खुशिया सरस अशन लखके होती ॥टेक॥
ज्यों घन-गर्जन सुनत मोर गण, नचें मधुर बोली बोले ।
शान्तिमयी लख चन्द्रकला ज्यों, मत्त चकोर-नयन डोले ॥टेक,२॥
त्यों जिन, तुव मुख आभा लख मम, अहो हर्षका छोर नहीं ।
'भूरा' निशि-दिन यही चाहना, दृष्टि न जावे और कहीं ॥टेक,३॥

(७)

पृष्ठ ८९ पर आये 'अयि जिनप०' इत्यादि संस्कृत गीतका हिन्दी पद्यानुवाद –

हे जिनवर, छवि तेरी सुन्दर अतिनिर्मल भावोंवाली ।
काम-अग्नि किसको न जलावे, करके सबको मतवाली ॥ १॥
हरि-हरादि भय-भीत होय सब, जिनवर, बने शस्त्र-धारी ।
असन बसन सब कोई चाहें, सबके घन तृष्णा भारी ॥ २ ॥
तुमने भगवन्, काम जलाया, भूख प्यासकी व्याधि हरी,
राग द्वेषसे रहित हुए हो, वीतरागता अंग भरी ॥ ३ ॥

'भूरा' यह भी आश करत है, कब मैं तुमसा बन जाऊं ?
राग रोषसे रहित, निरजन, बन अविनाशी पद पाऊ ॥ ४ ॥

(८)

पृष्ठ ६०-६१ पर आये 'छविरविकलरूपा' इत्यादि संस्कृत गीतका हिन्दी पद्यानुवाद –

वसनाभरण-विभूषित जगकी देव-मूर्तिया दीखे,
उन्हे देख जग जन भी वैसो ही विभावना सीखे ।
वीतरागता दिखे न उनमे, और नही वे शम-धारी,
सहज सुरूपा जिनमुद्रा यह, रक्षा करे हमारी ॥१॥

जिन-मुद्रामें लेश नही है, अहो किसी भी दूषणका,
मञ्जुल सुन्दर सहज शान्त है, काम नही आभूषणका ।
तीन भुवनको शान्ति-दायिनी, सहज शान्तिकी अवतारी,
सहज सुरूपा जिनमुद्रा यह रक्षा करे हमारी ॥ २ ॥

जहां वचना हो लक्ष्मीकी, तुम्हे देख दासी बन जाय,
जग-वैभव सब फीके दीखें, जगकी माया-मोह पलाय ।
जाऊ शरण उसी जिन-छविकी, जो लगती सबको प्यारी,
सहज सुरूपा जिन-मुद्रा यह, रक्षा करे हमारी ॥ ३ ॥

जिसके दर्शनसे जग-जनकी, सब आकुलता मिट जावे,
ऋद्धि-सिद्धिसे हो भर-पूरित, औ कुलीन पदको पावे ।
'भूरा' की प्रभु अरज यही है, दूर होय विपदा सारी,
सहज सुरूपा जिनमुद्रा यह, रक्षा करे हमारी ॥ ४ ॥



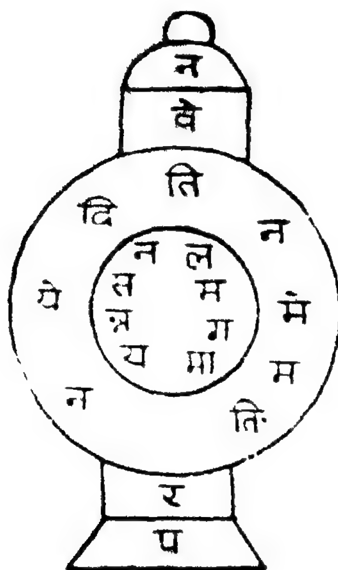
श्लोकानुक्रमणिका

[ह]



कलशबन्ध काव्य

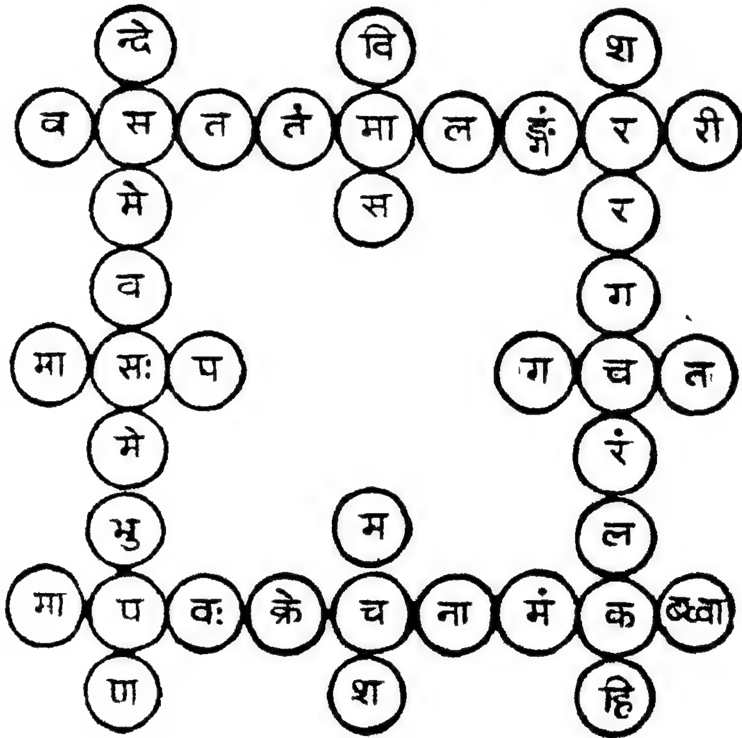
परमागमलम्बेन नवेन सन्नयं लप ।
यन्न सन्नर मङ्ग मां नयेदिति न मे मतिः ।। सर्ग ६, ८६ ।।



उपर्युक्त श्लोकको कलशके आकारमें पढे ।

हारबन्ध काव्य

वन्दे तमेव सततं विलसत्तमाल-
रङ्गं शरीरगतरङ्गधरं चकार ।
लब्ध्वा हिमङ्कमकनाशक एषकश्च
चक्रे भुवः स वशिनां पणमाप मे सः ॥सर्ग ६, ६०॥



उपर्युक्त श्लोकको इस हारके आकारमें पढ़ें ।

कतिपय क्लिष्ट एवं श्लिष्ट शब्दों का अर्थ

शब्द	अर्थ	पृष्ठ
	[अ]	
अक	दुःख, पाप	३२,१९४
अकन्दता	दुखदता,	६७
अकाण	सुदृष्टिवाला	१६२
अक्ष	इन्द्रिय	१७८, १८९
अङ्गभू	प्राणी	६५
अङ्गरुह	बाल, केश	३९
अङ्घ्रि	चरण	६८
अङ्क	चिह्न	१९४
अध्वा	माग	१२०
अनर्घता	अमूल्यता	८५
अनामिष	निरामिष	७७
अनूढा	अविवाहिता	३१
अनेकान्त	एकान्त रहित	११८
अनोकह	वृक्ष	२९
अन्धु	कूप	२,४२
अपदेश	व्याज	४९,१२०
अपवादिता	बदनामी	१६
अपाङ्ग	कटाक्ष	५६
अपाय	विनाश	८४
अब्ज	कमल	६९
अभिजात	उच्च कुलीन	४८
अभिषव	अभिषेक	१५७
अभिसारक	अतिरमणशील	२१
अमा	अमावस्या	७६,१११
अम्बुवाह	मेघ	७०
अयुतनेत्री	सहस्राक्ष, इन्द्र	४६
अर	शीघ्र	४१,५२ १२७
अर्क	आकड़ा	३८
अलि	भौरा	१७९
अवतंस	आभूषण	२३
अवाय	निश्चय	१८६
अवि	भेड़	१०
असि	तलवार	१४६

शब्द	अर्थ	पृष्ठ
अहन्	दिन	१५२
अहिमा	सर्प का प्रभाव	१४८
	[आ]	
आखु	मूषक, चूहा	१२४
आगस्	अपराध	१३५,१४६
आदर्श	दर्पण	६२,१६२
आनक	नगाड़ा	२३
आरात्	समीप, दूर	३०
आराम	उपवन	१८ १०६
आशा	दिशा	१३१,१६१
आशीविष	विषैला साप	१४६
आशु	शीघ्र	११५
आस्य	मुख	६५
	[इ]	
इङ्गित	संकेत, अभिप्राय	१३८
इन्दिरा	लक्ष्मी	५
इन्दु	चन्द्रमा	१५७
इला	पृथ्वी	८२,१५८
	[उ]	
उत्कर	राशि, समूह	३०
उत्तमाङ्ग	शिर	६३, ८१

शब्द	अर्थ	पृष्ठ
उत्तराय	दुपट्टा,	७३
उत्तल, उत्तर सुन्दर		१२०
उदञ्चन	सिंचन	३०
उदन्वान्	समुद्र	३७
उदर्क	परिणाम	३४,६८
उपकण्ठ	समीप	५३
उपासक	श्रावक	१६०
उपोषित	उपासा	७४,११८
	[ए]	
एकान्त	एक धर्मयुक्त	११८
एनस्	पाप, दोष	१५८
ऐन्द्री	पूर्व दिशा	४४
ओतु	बिलाव	१२४
	[क]	
कच	केश	२७
कदली	केला वृक्ष	१६६
कद्विधि	दुर्दैव	८८
कपर्दक	कौडी	४३
करण	इन्द्रिय	१२६
करण्ड	पिटारा	१७६
करग्रह	विवाह	६१

शब्द	अर्थ	पृष्ठ
करत्र	कलत्र, स्त्री	६८
करीर	कैर वृक्ष	१६४
कलत्र	स्त्री	४७
कला	ज्योति	८५,६१
कलावान्	चन्द्रमा	११७
कल्प	विधि,विधान	१४६
कादम्बिनी	मेघमाला	२५
कापी	जल-भरी	२६
काममाता	लक्ष्मी	२०
किण	गुण,स्वभाव	१६६
कुक्कुर	कुत्ता	६८,११५
कुड्मल	खिलती हुई कली	३३
कुण्ड	कूंडा	१३५
कुमुद्वती	कुमुदिनी	११०
कुम्भक	सास रोकना	१३३
कुल्या	नहर, छोटी नदी	४२
कुशेशय	कमल	२८
कुसुम	पुष्प, रजःस्राव	११३
कुसुमन्धय	भ्रमर	१४०
केकी	मयूर	८६
कैरव	श्वेत कमल	५८
कैरविणी	कुमुदिनी	११०
कोक	चकवा	४ ४५
कौतुक	कुतूहल पुष्प	२८,१०२
कौमाल्य	कौमार्य	५३
कौमुद	प्रमोद	११७, १३१
कौमुदी	चांदनी	६६
क्लैव्य	नपुंसकपना	१०७
क्षणभू	क्षण भर	१३१
क्षीरोद	क्षीर सागर	२८

[ख]

शब्द	अर्थ	पृष्ठ
खञ्जन	एक चिडिया	१५७
खदिर	खैर का वृक्ष	१८०
खल	दुर्जन, खली	४
खलक्षण	अवकाशवाला	११

[ग]

शब्द	अर्थ	पृष्ठ
गण्ड	गाल	३
गर	विष	११६
गह्वर	गुफा	१६१
गह्वरीप	गुफ वासी	१६६
गारुडी	सर्पविद्या वेत्ता	१८६
ग्राम	गांव, समूह	१२६

शब्द	अर्थ	पृष्ठ
	[च]	
चटिका	चिड़िया	१२२
चरणप	चारित्रधारी	१०३
चरु	नैवेद्य	८५
चातक	पपीहा	२१,४२
चातकी	पपीही	१३१
चीर	वस्त्र	५,२८
चेटिका	दासी	१२२
चेटी	दासी	१२९
चेल	वस्त्र	१५८
	[छ]	
छद्म	छल	९४
छवि	मूर्त्ति	८२,९०
	[ज]	
जगन्मित्र	सूर्य	१७३
जडराशि	जलराशि,.	६०
जनी	स्त्री	१५९
जनु	जन्म	७९,८१
जनुष्	जन्म	१५९
जपाश	जपाकुसुमय	९३
जम्बल	नीबू, नारंगी	८

शब्द	अर्थ	पृष्ठ
जरस्	बुढापा	१६६
जल्प	बकवाद	५,१०९
जव	वेग	३९
जानुज	वैश्य	६३
जिनप	जिनेन्द्र	४५
जूर्ति	ज्वर	१३७
	[झ]	
झष	मछली	२१
झुण्ड	समूह	१३५
	[ड]	
डिम्भ	छोटा बालक	१५२
	[त]	
तति	पंक्ति, श्रेणी	२,५
तमाल	तमाखुपत्र	१९४
तल्प,	शय्या, स्त्री	५,२८,
ताति	परम्परा	१७१
ताम्रचूड	मुर्गा	४५
तुक्	पुत्र	५१, ६७,१४८
तुला	तुलना	८२
तुर्य	चौथा	७९
तूर्ण	शीघ्र	१५
तूल	विस्तार, रूई	१३७

शब्द	अर्थ	पृष्ठ
	[द]	
दारा	स्त्री	१४७
दिवा	दिन	१६२
दृप्ति	उन्माद	१८६
दोषाकर	चन्द्रमा	१७३
द्रुत	शीघ्रतासे	१२०
द्वादशात्मा	सूर्य	११२
द्विज	ब्राह्मण,पक्षी	१२७
द्विजिह्व	सर्प	१२,२३
	[ध]	
धारणा	व्रत-स्वीकृति	१२६
धिषणा	बुद्धि	१६५
ध्यामलता	कालिमा	४०
	[न]	
नग	पर्वत	१०८
नदीप	समुद्र	१६३
नभोग	आकाशगामी	१४
नरप	नरपाल, राजा	२०
नर्म	विनोद	८३, ११५
निधान	खजाना, भडार	११
निम्नगा	नदी	७

शब्द	अर्थ	पृष्ठ
निरागस	निरपराध	७७
निर्वृति	मुक्ति	११५,१५२
निशा	रात्रि	२१, १५२
निशाचर	राक्षस	१८५
निश्चेलक	नग्न, वस्त्र-रहित	७१
निःस्व	दरिद्र	१५७
	[प]	
पङ्क	कीचड़	१६७
पचेलिम	परिपाक	१३०
पण	विष्णु, मुख्य	१६४
पण्ड	षण्ढ, नपुंसक	३
पण्ययोषित	वेश्या	१७४
पण्यललना	,,	१८६
पतङ्ग	शलभ	१७६
पद्मिनी	कमलिनी	६७
पनस	कटहल	८५
पयस्विनी	दुधारू गाय	४
पर्व	व्रतका दिन	१२०
पल	मांस	१७८
पल्वल	छोटा तालाब	८
पलाशिता	मांस-भक्षिता	१६
पवमान	वायु	१६३

शब्द	अर्थ	पृष्ठ
पायुवायु	अधोवायु	११५
पारणा	उपवासके पीछे भोजन करना	१२६
पारावार	समुद्र	१२९
पार्श्वदृषद्	पारस पत्थर	७३
पिक	कोकिल	१०१
पिशित	मास	१८२
पिष्ट	पीठी	१३८
पुत्तल	पुतला	१२०,१२२
पुन्नाग	जायफल, श्रेष्ठपुरुष	१०५, १०८
पूतता	पवित्रता	१०५
पूतना	राक्षसी	२०
पूत्करण	चिल्लाहट	१४१
पृषदङ्क	चन्द्रमा	११२
पौलोमी	इन्द्राणी	७९
प्रतत	विस्तृत	१३३
प्रतिमायोग	स्थिर आसन	१२५
प्रतीप	प्रतिकूल	३६
प्रपा	प्याऊ	८
प्रशस्ति	यशोगान	६
प्रावृष्	वर्षा	९६

शब्द	अर्थ	पृष्ठ
प्रेतावास	श्मशान	१८९

[भ]

शब्द	अर्थ	पृष्ठ
भन्दता	भद्रता,	६७
भाल	मस्तक	५
भास्वान्	सूर्य	९६
भुजग	सर्प, जार	१४०
भृङ्ग	भौंरा	२८,४१ ४९
भेक	मेढक	१५६
भोगवती	सर्पिणी	९८
भोगी	सर्प	५३

[म]

शब्द	अर्थ	पृष्ठ
मकरन्द	पराग, केसर	२८
मञ्जु	सुन्दर	८४
मञ्जुल	मनोहर	९१
मञ्जुलता	सुन्दरता,	५५
मधु	शहद	५५
मधुला	मधुरा	३३
मनाक्	जरासा, अल्प	९१
मन्तु	राजा, बुद्धि	१५१
मन्मथ	कामदेव	१२१
मरिच	मिर्च	१५१

शब्द	अर्थ	पृष्ठ	शब्द	अर्थ	पृष्ठ
मरु	रेगिस्तान	१६३	रहस्य	गुप्त, गोपनीय	१५९
मरुत्सख	अग्नि	६२	रुक्	कान्ति, रोग	१६८
महर्घ	बहुमूल्य	११८	रुक्कुर	अभिलाषी	११५
महिषी	पट्टरानी, भैंस	१०, ७२	रुख	सदृश	१३६
महिषीचरी	रानीका जीव	१९०	रूपाजीवा	विलासिनी	१६४
मार	काम	६७	रेतस्	वीर्य	१३३
मुरली	बासुरी	१७	रोदसी	पृथ्वी वा स्वर्ग	१५
मुद्रा	मुहर, सिक्का	२६		[ल]	
	[य]		ललना	स्त्री	१२९
यथाजात	नग्न	१२८	लुण्टाक	लुटेरा	१२७
यदृच्छा	मनमानापना	१३८		[व]	
याम	पहर	१२६	बडिश	बसी	१७९
	[र]		वप्र	कोट	१८
रक्ताक्षिका	भैंस	७२	वयस्य	मित्र, साथी	५७
रङ्गभू	रगमंच	६५	वर्मित	कवच-युक्त	१३८
रजनी	रात्रि	१३१	वल्लकिका	वीणा	२८
रतीशकेतु	काम-पताका	१३४	वशा	हथिनी	१७९
रत्नाकर	समुद्र	१३	वामा	स्त्री	१३९
रद	दांत	२८	वासस्	वस्त्र	१६२
रम्भा	केलवृक्ष	८४ ८५	वाहा	भुजा	२७
रव	शब्द	१०१	वि.	पक्षी	७
रहस्	एकान्त	१४५	विधु	चन्द्रमा	५९

शब्द	अर्थ	पृष्ठ	शब्द	अर्थ	पृष्ठ
विनति	प्रार्थना	८७	शश्वत्	सदा	१३७
विपणि	हाट, दुकान	११८	शस्य	उत्तम	६,१२३
विरागभृत्	वैरागी	८०	शाखी	वृक्ष	१०८
विरोधिता	विरोधपना	१६	शाण	कसौटी	१३६
विलोमता	प्रतिकूलता	६६	शाप	दुराशीष	१२४
विवर	छिद्र	१८	शुचिराट्	शुद्धदेव	१३३
विषादी	विष-भक्षी	१५२	शेवाल	सेवार, काई	२७
विसर्ग	दान	१०	शैलूष	नट, अभिनेता	१८०
वीनता	गरुड़ाश्रिता	१४८	श्रणनाङ्क	विचरणस्थान	५०
वृतति	लता, वृत्ति	१०३	श्रणत्	देता हुआ	१२७
वेला	समय, वारी	८७	श्रीपथ	राजमार्ग	५८
वैजयन्ती	पताका, ध्वजा	३१	श्लक्ष्ण	चिकना	२७
वैलक्ष्य	अस्वाभाविकता	६५	श्वेतांशुक	श्वेत वस्त्र	११०
व्यपार्थ	निरर्थक	३८		[ष]	
	[श]		षट्चरण	भौंरा	१०३
शतयज्ञ	इन्द्र	७६	षट्पद	,,	१०२
शय	हाथ	५१		[स]	
शर	बाण	१७२	सचिव	मित्र, मंत्री	५४
शर्करिल	रेतीला	१३०	सत्तम	श्रेष्ठ	६०
शलभ	पतंगा	२१	सदीक्ष	सहपाठी	६
शवभू	श्मशान	१२०	सन्धानक	अचार	१८२
शशाङ्क	चन्द्रमा	२१	सन्निधि	समीप	६४

शब्द	अर्थ	पृष्ठ	शब्द	अर्थ	पृष्ठ
सन्निवेश	रचना	६	सुमनस्	पुष्प, सुचेता	८०
सप्तार्चि	अग्नि	३८	सुरभि	सुगंधि	१७३
समर्घ	बहुमूल्य	११८	सुरा	मदिरा	१७८
समाकूत	अभिप्राय	६४	सुराङ्क	स्वर्गलोक	२६
समुद्वाह	विवाह	६१	सेतु	पुल	१
सम्व्यवाय	मैथुन	१८६	सौध	पक्का मकान	१२
सहकारतरु	आम्रवृक्ष	१०१	सकाश	समान	२७
सहिमा	हिम(बर्फ)युक्त	१४८	संहति	समूह	१७२
सागस्	अपराधी	७७	स्तनित	मेघ-गर्जन	८१
सायक	बाण	२०	स्तनन्धय	शिशु, बालक	५६
साल	एक वृक्ष	१०४	स्तम्बक	गुच्छा	१०३
सितद्युति	चन्द्रमा	८०	स्थविर	वृद्ध	१६८
सिन्धु	नदी, समुद्र	२	स्फीति	समृद्धि	११०
सुधा	चूना, अमृत	४१,८४	स्फुटि	भेद खुलना	१५६
सुधाधुनी	अमृतबाहिनी नदी	४	स्फुलिङ्ग	चिनगारी	३०
सुधांशु	चन्द्रमा	६६	स्मर	कामदेव	३१
सुन्दल	सुन्दर	१२३		[ह]	
सुपर्वाधिभू	स्वर्ग	४८	हायन	वर्ष	२२
सुम	पुष्प	५३	हृषीक	इन्द्रिय	१६२



सुदर्शनोदय-गत-सूक्तयः



छन्द-सूची

सुदर्शनोदयकी रचना संस्कृत और हिन्दीके जिन छन्दोंमें की गई है उनकी सूची इस प्रकार है —

संस्कृत छन्द	हिन्दी छन्द
इन्द्रवज्रा	प्रभाती
उपेन्द्रवज्रा	काफी होलिकाराग
उपजाति	कव्वाली
वियोगिनी	छूदचाल
वसन्ततिलका	रसिकराग
द्रुतविलम्बित	सारंगराग
शार्दूलविक्रीडित	श्यामकल्याणराग
वैतालीय	सौराष्ट्रीयराग

इनके अतिरिक्त अनेक गीतोंकी रचना हिन्दी पद्यरचनामें प्रसिद्ध अनेक तर्जों पर की गई है । उनकी विगत इस प्रकार है:—

१. पृ० ८२ 'भो सूखि जिनवरमुद्रां पश्य' इत्यादि गीतकी चाल–

'जिनगुण गावो जी ज्ञानी जाते सब संकट टर जाय' की तर्ज पर।

२. पृ० ८७ 'तव देवांघ्रिमेवा' इत्यादि गीतकी चाल–'क्यों न लेते खबरियां हमारी जी' की तर्ज पर।

३. पृ० ११३ 'प्रभवति कथा परेण' इत्यादि गीतकी चाल–'सुनिये महावोर भगवान् हिंसा दूर हटाने वाले, की तर्ज पर।

४. पृ० १२७ 'घनघोर सन्तमसगात्री' इत्यादि गीतकी चाल–'हित कहत दयाल दयाते सुनो जीया जिय भोरेको बाते, की तर्ज पर।

५. पृ० १३१ 'चन्द्रप्रभ विस्मरामि न त्वाम्' इत्यादि गीतकी चाल–'दीनानाथ काटो क्यों न करम की बेड़ी जो' की तज पर।

६. पृ० १३२ 'सुमनो मनसि भवानिति धरतु' इत्यादि गीतकी चाल–'तेरी बोली प्यारी मुझे लगे मेरे प्रभुजो' की तर्ज पर।

७. पृ० १५६ 'जिनयज्ञमहिमा ख्यात: इत्यादि गीतकी चाल–'मैं तो थारी आज महिमा जानी' की तर्ज पर।

८. पृ० १७० 'देवदत्तां सुवाणी सुवित् सेवय' इत्यादि गीतकी चाल–'जिनवाणी हम सबको सुना जांयगे' की तर्ज पर।

९. पृ० १७१ 'इह पश्याङ्ग सिद्धशिला भाति। ,, ,, ,,



शुद्धिपत्र

मशीनकी खराबी और मशीनमैनकी असावधानीसे रेफ और ऊपरी मात्राएं अनेक स्थानों पर टूट गई हैं, तथा कितने हो स्थानों पर पदके मध्यवर्ती अर्धाक्षर भी टूट गये हैं, या छपने से रह गये हैं। उनमेसे सहज ही ध्यानमे आ जानेवाले ऐसे स्थलोको शुद्धिपत्रमे नहीं दिया जा रहा है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	११	धागुत्तमा	वागुत्तमा
२	८	गुणोधान-	गुणोघान-
८	१६	-पल्लवानि	पलवलानि
१७	६	-वल्लयां	वल्लयां
१७	२०	-मासीद्बहु-	मासीद्बहु-
२२	११	महवोर	महावीर
३१	१२	-पू वंका	-पूर्विका
३१	१८	वृथ्वी	पृथ्वी
३३	२	कुड्लम	कुड्मल
३३	११	प्राणिमात्राका	प्राणिमात्रका
३४	६	हाथ पेर	हाथ
३५	८	मावार्थ-	भावार्थ-
३५	२०	वृषभाव	वृत्तभाव
३७	११	वर्तरो	वर्तते
४२	८	—वतार	—वतारं
४५	११	चाभिषिषे च	चाभिषिषेच
४७	८	चन्द्रका	चन्द्रको

४८	२०	चकार तस्य	तस्य चकार
५०	१०	ब्रज-	व्रज-
५०	१६	श्रणाणाङ्के	श्रणनाङ्के
५४	६	सकविल-	सकल-
५६	१६	वयस्यैरि	वयस्यैरिति
६५	१६	नेदमनुमन्द-	नेदमनुसन्द-
६७	१६	-नस्येथ-	नस्येथ-
७३	१०	सयोगगे	सयोगसे
७३	१०	प्राणियोके	प्राणियोंको
७५	६	ऽगान्	ऽगान्
७६	२	-तर्पणे	तर्पणं
८०	५	दृष्टिपथमपि	दृष्टिमपि
८४	६	मलयागिरे	मलयगिरे
८५	११	फलमषि	फलमपि
८८	१०	सुवेश	सुवेश
९०	१५	षायात्	पायात्
९१	११	भवे-	भवे-
९४	३	भयेनाढ्य	भयाढ्य
९५	१६	प्रासादप-	प्रासादोप-
९७	१	दातु	दातुं
९७	१४	सा रो-	सारो-
९७	१५	-स्य स्म-	-स्यस्मि-
९८	६	किञ्चत्	किञ्चित्
९८	१६	-शालीनि	-शालिनि

१०३	१२	-सेनेन यः	-सेननयः
१०८	८	-कत्बेन	-कत्वेन
१०८	१३	-ताप्त्वा	-तामाप्त्वा
१०६	११	रसनया तया	रसनयात्तया
११०	१०	कमलिनो	कमोदिनी
११७	७	गद येवं	गदस्येवं
१२०	६	किलाप-	किलोप-
१२२	१७	तो टी	तो चेटी
१२७	८	भीषता	भीषणता
१३२	१३	नेति	नेति तावत्
१४०	१३	निष्कसय-	निष्कासय-
१४३	३	तेन प्रोक्त	प्रोक्ते तेन
१४८	१	हि या	हि मा
१४६	६	माह	मोह
१५५	८	बह	बहु
१६०	१०	सुदर्शनस्य	सुदर्शनेष्ट
१६५	१४	तो	सो
१७२	३	कुचेष्टा	कुचेष्टां
१७२	११	-रण्यशेषा	रण्यशेषा
१७३	४	उनको	उनकी
१७४	१०	स्वामिस्त्व-	स्वामिस्त्व-
१८१	७	स्व र्थ-	स्वार्थ
१८३	६	वस्तुओंका	वस्तुओंको
१८५	५	धारण	धारण कर

१९३	१५	परमब-	परमघ-
१९९	७	लेकर	लेकर शुभ
२००	१०	घिस कर	घिस

अर्थ-संशोधन

१. पृ० ५५ श्लोक ३२ का अर्थ इस प्रकार पढ़े—

जैसे वर्षाऋतुमे पानी बरसनेके कारण भूतल पर कीचड़ हो जाती है और शरद् ऋतुके आने पर वह सूख जाती है, एवं लोगोंका मन प्रसन्नतासे भर जाता है, उसी प्रकार सुदर्शन बालपनेमे होनेवाली जडता (अज्ञता) का अपकार (विनाश) करनेवाली और लोगोके मनको प्रसन्न करनेवाल युवावस्थाको प्राप्त हुआ।

२. पृ० ६७, श्लोक १४ का अर्थ इस प्रकार पढे—

इस श्लोकमें 'तमाशिवनं' तथा 'मेघहरं' ये दोनों ही श्लिष्ट पद हैं। इनका दूसरा अर्थ– 'तम्+आशु+इन, तथा 'मे+अघहर' ऐसी सन्धिके तोड़नेपर– 'शीघ्र ही मेरे अघको नाश करनेवाले उन 'इन' अर्थात् साधुओंके स्वामी मुनिराज' होता है। अतः इस श्लोकके अर्थकी तीसरी पक्तिसे आगे इस प्रकार पढे– 'ठीक इसी प्रकार मुझ जैसोंके शीघ्र ही पापको नाश करनेवाले मुनिराजको पाकर'।

३, पृ० ७८ श्लोक४` प्रयुक्त 'नमदाचरण' पदके 'न+मदाचरण' और नमद्+आचरण, ऐसे दो अर्थ विवक्षित हैं। अतः अर्थको दूसरी पक्तिमें 'नशीली वस्तुओंका सेवन न करें और विनीत भाव धारण करके वृद्धजनों की आज्ञाको स्वीकार करें।' इस प्रकार पढ़ना चाहिए।